ISSN : 0973-8568

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल

म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का
समीक्षित जर्नल

वर्ष 18 | संयुक्तांक | जनवरी-दिसम्बर 2020

www.mpissr.org

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल

प्रधान सम्पादक

प्रोफेसर नलिनी रेवड़ीकर

सम्पादक

प्रोफेसर यतीन्द्रसिंह सिसोदिया

उप-सम्पादक

डॉ. आशीष भट्ट
डॉ. सुदीप मिश्र

सलाहकार मण्डल

प्रोफेसर गोपालकृष्ण शर्मा
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म.प्र.)

प्रोफेसर अनिल कुमार वर्मा
क्राइस्ट चर्च कॉलेज, कानपुर (उ.प्र.)

प्रोफेसर संजय लोढ़ा
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

प्रोफेसर मणीन्द्रनाथ ठाकुर
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

प्रोफेसर डी.एम. दिवाकर
ए.एन. सिन्हा समाज विज्ञान संस्थान, पटना (बिहार)

प्रोफेसर बदरीनारायण
गोविन्द बल्लभ पन्त सामाजिक विज्ञान संस्थान, प्रयागराज (उ.प्र.)

प्रोफेसर सन्दीप जोशी
म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, उज्जैन (म.प्र.)

ISSN 0973-8568

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल

वर्ष 18 जनवरी–दिसम्बर 2020 संयुक्तांक

प्रधान सम्पादक
प्रोफेसर नलिनी रेवड़ीकर

सम्पादक
प्रोफेसर यतीन्द्रसिंह सिसोदिया

उप-सम्पादक
डॉ. आशीष भट्ट
डॉ. सुदीप मिश्र

म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान
(भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान परिषद्, शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली
एवं उच्च शिक्षा मन्त्रालय, मध्यप्रदेश शासन, भोपाल का स्वायत्त शोध संस्थान)
6, प्रोफेसर रामसखा गौतम मार्ग, भरतपुरी प्रशासनिक प्रक्षेत्र
उज्जैन - 456010 (मध्यप्रदेश)

म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, उज्जैन द्वारा प्रकाशित ***मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल*** अन्तर्विषयक प्रकृति का अर्द्धवार्षिक जर्नल है। जर्नल के प्रकाशन का उद्देश्य समाज विज्ञानों में अध्ययन एवं अनुसन्धान को बढ़ावा देना तथा समसामयिक विषयों पर लेखकों एवं शोधार्थियों को लेखन एवं सन्दर्भ हेतु समुचित अवसर प्रदान करना है।

समाज विज्ञानियों एवं शोधार्थियों से भारतीय एवं क्षेत्रीय सन्दर्भों पर सम-सामयिक विषयों यथा - सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक, विकासात्मक, प्रशासनिक मुद्दों, समस्याओं एवं प्रक्रियाओं पर शोधपरक आलेख, पुस्तक समीक्षा आदि आमन्त्रित हैं।

सदस्यता शुल्क

वार्षिक		**प्रति अंक**	
संस्थागत	रु. 400.00	संस्थागत	रु. 200.00
व्यक्तिगत	रु. 300.00	व्यक्तिगत	रु. 150.00

जर्नल हेतु सदस्यता शुल्क बैंक ड्राफ्ट/चैक द्वारा निम्न पते पर भेजें

निदेशक
म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान
6, प्रोफेसर रामसखा गौतम मार्ग, भरतपुरी प्रशासनिक प्रक्षेत्र
उज्जैन - 456010 (मध्यप्रदेश)
दूरभाष - (0734) 2510978, फैक्स - (0734) 2512450
e-mail: mpissrhindijournal@gmail.com, mpissr@yahoo.co.in
web: mpissr.org

ISSN 0973-8568

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल

(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का अर्द्धवार्षिक जर्नल)

वर्ष 18 जनवरी-दिसम्बर 2020 संयुक्तांक

राजधर्म का प्राचीन भारतीय परिप्रेक्ष्य 1
- संजीव कुमार शर्मा

हन्ना आरेंट : क्रान्ति दर्शन की समीक्षा 22
- विश्वनाथ मिश्र

चम्पारण सत्याग्रह, गाँधी एवं सविनय अवज्ञा का नैतिक आधार 40
- प्रेम आनन्द मिश्र

ग्रामीण महिलाओं के सामाजिक एवं आर्थिक समावेशीकरण में राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन की भूमिका का तुलनात्मक अध्ययन : अमरावती जिले के विशेष संदर्भ में 52
- सन्दीप जोशी एवं अमित तिवारी

हाशिये का समाज एवं मानव अधिकार : एक विश्लेषण (जनजातीय समाज के विशेष सन्दर्भ में) 68
- पुनीत कुमार एवं मंजुलता गर्ग

अश्वेत और दलित परिप्रेक्ष्य के सन्दर्भ में भारतीय नारीवादी आन्दोलन की प्रकृति 78
- रश्मि गौतम

वृद्धजनों की सामाजिक सुरक्षा : समसामयिक विश्लेषण **89**
- जितेन्द्र सेन

पुस्तक समीक्षा
जनादेश : जनता का आदेश **102**
(वीर सांघवी)
- मुनेश कुमार

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 18, संयुक्तांक, जनवरी-दिसम्बर 2020, पृ. 1-21)

राजधर्म का प्राचीन भारतीय परिप्रेक्ष्य*

संजीव कुमार शर्मा†

राजधर्म की प्राचीन भारतीय अवधारणा में साम्राज्य के जनमानस का कल्याण ही अपरिहार्य रूप से केन्द्र बिन्दु था। राज्य में सभी के भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक कल्याण को सुनिश्चित करना ही शासक का सर्वोच्च कर्तव्य माना जाता था जो सद्भाव, स्थायी प्रसन्नता और समृद्धि का मार्ग निश्चित रूप से प्रशस्त करे। प्राचीन भारत में राजनीतिक दर्शन के विमर्श ने राजधर्म पर विशेष बल दिया है। प्राचीन भारत में गणराज्यों पर प्रचुर मात्रा में साहित्य उपलब्ध है। प्राचीन भारतीय राजनीतिक व्यवस्थाओं पर किये गये अध्ययनों ने सामान्यत: इन गणराज्यों को दो प्रकार की मान्यताओं के साथ स्वीकार किया है। व्याख्याताओं के एक समूह ने उन्हें प्रारम्भिक भारत के उत्तर-आदिवासी, उत्तर-वैदिक, अस्थायी प्रशासनिक व्यवस्था की संज्ञा दी है। विद्वानों के दूसरे समूह ने उनके भौगोलिक विस्तार के आधार पर उनका अध्ययन किया है।

यह अत्यन्त रोचक तथ्य है कि राजधर्म की प्राचीन भारतीय अवधारणा में साम्राज्य के जनमानस का कल्याण ही अपरिहार्य रूप से केन्द्र बिन्दु में हुआ करता था। राज्य में सभी के भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक कल्याण को सुनिश्चित करना ही शासक का सर्वोच्च

*उक्त आलेख भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान परिषद्, नई दिल्ली द्वारा प्रदत्त वृहद् शोध परियोजना पर आधारित है और आर्थिक सहयोग के लिए परिषद् का आभार
†कुलपति, महात्मा गाँधी केन्द्रीय विश्वविद्यालय, मोतिहारी (बिहार)
E-mail: vc@mgcub.ac.in

कर्त्तव्य माना जाता था जो निश्चित रूप से सद्भाव, स्थायी प्रसन्नता और समृद्धि का मार्ग प्रशस्त करे। राज्य के अन्य अंगों को उचित अधिकार, कर्त्तव्य और विधिक अधिकार प्रदान करने के साथ-साथ लब्धप्रतिष्ठित बुद्धिजीवियों की आवश्यक सहायता के माध्यम से राज्य का सम्यक् संचालन सुनिश्चित करता था। इन लब्धप्रतिष्ठित बुद्धिजीवियों को बहुधा संस्कृत साहित्य में ऋषि, मुनि या कुलपति (कुलगुरु) के रूप में सम्बोधित किया जाता था। ये ऋषि, मुनि आदि न केवल प्राचीन भारतीय ज्ञान परम्परा के पथप्रदर्शक थे, अपितु बड़े स्तर पर जनमानस के साथ-साथ राजाओं को भी उनके धर्म के प्रति निर्देशित करते हुए सत्य के अनुसन्धान में प्रवृत्त रहते थे। इस निर्धारित धर्म का अनुपालन सभी को वास्तविक अर्थों में अपने इष्टतम प्रयासों द्वारा करना था। इसलिये अपने स्वयं के धर्म का बोध, ज्ञान और पालन, प्रजा के समग्र कल्याण को प्राप्त करने की पूर्वाश्यकता थीं जिसमें राजा द्वारा स्पष्टत: अपने धर्म का निष्ठापूर्वक पालन करना भी सम्मिलित है। धर्म का यह बहु-स्तरीय पालन सुख का द्वार है, जिसे सुखम् कहा जाता है। अर्थ के लिए कठोर धर्म का पालन ही धर्म का मूल है। इस अर्थ को केवल एक राष्ट्र (आधुनिक राजनीति विज्ञान की शब्दावली में राज्य) के माध्यम से संरक्षित किया जा सकता है। राज्य का प्रजा हितैषी होना आवश्यक है, इसलिये शक्ति और अधिकार सम्पन्न लोगों को शासकों के मनुष्य भाव को विकृत नहीं होने देना चाहिये और उन्हें स्वधर्म से भी विचलित नहीं होना चाहिये और यह परोपकार तभी प्राप्त होगा जब शासकों का अपनी इन्द्रियों पर पर्याप्त आन्तरिक नियन्त्रण हो। उनसे अपेक्षा की जाती थी कि स्व-इन्द्रिय पर भी उनका नियन्त्रण हो और जिसने अपनी इन्द्रियों पर जीत हासिल की है, उसे ही सभी भौतिक और आध्यात्मिक उपलब्धियों की प्राप्ति के मार्ग से संयुक्त किया जा सकता है।

सुखस्य मूलं धर्म:। धर्मस्य मूलमर्थ:। अर्थस्य मूलं राज्यम्। राज्यमूलमिन्द्रियजय:। इन्द्रियजयस्य मूलं विनयम्। विनयस्य मूलं वृद्धोपसेवा। वृद्धसेवाया विज्ञानम्। विज्ञानेनात्मानं सम्पादयेत। सम्पादितात्मा जितात्मा भवति। जितात्मा सर्वार्थ: संयुज्यते। अर्थसम्पत्प्रकृतिसम्पदं करोति।[1]

कौटिल्य द्वारा किया गया यह अनुक्रमण दीर्घकाल से राजनीतिक शासन पर प्राचीन भारत के लेखकों को निर्देशित करता रहा है। हमें सुशासन के इन विभिन्न चरणों के अनेक प्रमाण महाभारत में यत्र-तत्र मिलते हैं किन्तु कौटिल्य ने इस प्रक्षेपपथ को अतीव व्यवस्थित रूप में वर्णित किया है।

अनेक प्राचीन भारतीय दार्शनिकों ने ज्ञान और राजधर्म के बीच के सम्बन्धों के विषय में स्पष्ट विवरण प्रस्तुत किये हैं और उनके विचार में प्रामाणिक ज्ञान ही विद्या है जिसे ज्ञान-मीमांसा, सिद्धान्त और व्यावहारिकता के सन्दर्भ में समझा जा सकता है। यह विद्या ही राजा सहित सभी का स्थायी लक्ष्य होना चाहिए। यह विद्या आन्तरिक शक्ति का संचरण करती है, मानसिक प्रयास को उत्तेजित करती है, स्व-उत्थान का मार्ग प्रशस्त करती है, विचलनों को रोकती है, परिवर्तनशील प्रवृत्तियों को सीमित करती है, व्यवहार में अनुक्रियता को बढ़ाती है,

आत्मानुभूति की ओर ले जाती है, उपयुक्तता प्रदान करती है, और सभी के लिए धर्म का अनुपालन करने की दिशा में प्रयास करती है।

बीसवीं शताब्दी के मध्य भाग में अमेरिका के शिकागो स्कूल के राजनीति वैज्ञानिक डेविड ईस्टन द्वारा प्रतिपादित 'मूल्यों का अधिकारिक वितरण' की अवधारणा प्राचीन भारतीय सांख्य दर्शन की ज्ञान मीमांसा के मूल में विद्यमान है। यह प्राचीन भारतीय सांख्य दर्शन ज्ञान, इच्छा शक्ति, और मानसिक प्रयास तथा शारीरिक प्रयास के बीच एक दृश्यमान कार्यात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की बात करता है, जिसे इसके संचयी रूप में न्याय वैशेषिक दर्शन में 'सविषयक पदार्थ-ज्ञान-इच्छा-कृति प्रयत्न' कहा जाता है। सविषयक पदार्थ का यह विशिष्ट वर्णन ज्ञान के एक सार्वभौमिक प्रारूप के रूप में समझा जा सकता है तथा इसे जीवन के सभी क्षेत्रों में सर्वतोन्मुखी उन्नति के लिए इसके उचित कार्यान्वयन पद्धति के रूप में माना जा सकता है। राजा से यह अपेक्षा की जाती है कि वह विद्या की मात्रा, इच्छा शक्ति की सीमा, मानसिक प्रयास की दुरिता और अपने लोगों के शारीरिक प्रयास की क्षमता का ज्ञान प्राप्त करे और इस प्रकार उन सभी के पुरुषार्थ चतुष्टय की सीमा का निर्धारण करे। ऐसी स्थिति में यह वह राजा है, जिसे श्रवण विचार और आत्मसात् की विधि के माध्यम से प्रामाणिक ज्ञान का पता लगाना और प्राप्त करना है, जिसे सैद्धान्तिक रूप से श्रवण, मनन और निदिध्यासन कहा जाता है। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयासों के माध्यम से, राजा नैतिक रूप से किसी भी व्यक्ति या समूह विशेष के स्वधर्म को इंगित, प्रमाणित और विनियमित करने की स्थिति में होता है। राज्य में विशेष रूप से होने वाले विशिष्ट धर्म को आवण्टित करने और सीमांकित करने का यह अधिकार राजा को किसी भी प्राधिकार द्वारा प्रदत्त नहीं होता, बल्कि अपने स्वयं के धर्म के सम्यक् अनुपालन के द्वारा प्राप्त किया जाता है। यह मौलिक विचार राजा के प्राधिकार की वैधता (औचित्यपूर्णता) का आधार है। इसलिये, प्राचीन भारतीय द्रष्टाओं के अनुसार राजधर्म एक अधिकार नहीं है, बल्कि एक विशिष्ट व्यक्तिगत सम्पत्ति है जिसे राजा को लोगों के कल्याण और भलाई और अपने स्वयं के धर्म के पालन की दिशा में निरन्तर प्रयासों के माध्यम से प्राप्त करना होता है। केवल यही सुशासन का प्रवेश द्वार है जिसे परम्परागत रूप से सुखम् कहा जाता है।

पुरुषार्थ-चतुष्टय मानव जीवन के प्रत्येक आयाम पर प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य में एक बहुधा प्रयोग में लाया जाने वाला शब्द-युग्म है। इसे किसी भी जीवित प्राणी के अन्तिम लक्ष्य के रूप में समझा जा सकता है। मानव को अपने अस्तित्व को और उसके ध्येय को प्रतिपल ध्यान में रखना होगा। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की इस रचना को पुरुषार्थ-चतुष्टय कहा जाता है, जिसका शाब्दिक अर्थ मनुष्य के चार लक्ष्यों का संयोजन है। इन चारों का अनुक्रमण निर्धारित, व्यवस्थित और तार्किक रूप से संयोजित है। तथापि प्रत्येक अन्य आयामों को धर्म आधार प्रदान करता है जबकि मोक्ष अन्तिम उद्देश्य है। इसलिये इसे मुक्ति की चार स्तरीय पद्धति के रूप में समझा जा सकता है जो अनिवार्य रूप से मानव गतिविधि के सभी क्षेत्रों में धर्म में अपना आधार पाती है। अर्थ की इच्छा केवल धर्म के अनुसार

ही करनी है। धर्म के साथ अर्थ का कठोर संयोजन कर्म की उपलब्धि सुनिश्चित करेगा और अन्त में धर्म पर आधारित अर्थ और कर्म के संयोजन के माध्यम से ही अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करना होगा। इस प्रकार पुरुषार्थ-चतुष्टय अनिवार्य रूप से प्रत्येक श्रेणी में धर्म को समाहित करता है, जबकि वे सभी निकटता से जुड़े हुए हैं और एक दूसरे के पूरक हैं। पुरुषार्थ-चतुष्टय की यह मूलभूत समझ राजा द्वारा राजधर्म के निर्वहन की प्राथमिक आवश्यकता है।

राजनीतिक सिद्धान्त और विचार से जुड़े विमर्श राजनीतिक साहित्य में प्रयुक्त शब्दावली की भाषा, सन्दर्भ, प्रभाव, अवधारणा, सामान्यीकरण, सिद्धान्त-निर्माण या प्रयोजनीयता की तथ्यात्मकता पर निर्भर करते हैं। सामान्य रूप से प्राचीन भाषा साहित्य और विशेष रूप से अतीत के भारतीय संस्कृत साहित्य को समझने के लिए परिप्रेक्ष्य और सन्दर्भित दृष्टिकोण की अतिरिक्त सावधानी की आवश्यकता हो सकती है। इसे समझने हेतु धर्म की परिभाषा और अर्थों के विविध प्रक्रियागत संयोजनों के अपरिहार्य वैचारिक ज्ञान की आवश्यकता होगी। अनेक बार भारत के अतीत पर टिप्पणी करने वालों ने धर्म शब्द का अंग्रेजी (प्रत्यक्ष) अनुवाद रिलीजन के रूप में किया है। परन्तु धर्म की व्यापकता को देखते हुए प्राचीन भारतीय ग्रन्थों का कोई भी सुविज्ञ विद्वान रिलीजन शब्द के पर्याय अथवा समानार्थक के रूप में धर्म शब्द का प्रयोग नहीं करेगा क्योंकि धर्म की तुलना में रिलीजन शब्द की सीमाएँ बहुत ही संकीर्ण हैं। रिलीजन एक विशेष समूह या विशेष प्रार्थना से जुड़े समुदाय, विश्वास, या प्रार्थना समूह को दर्शाता है जबकि धर्म का अर्थ धार्मिकता, उचित आचरण, कर्त्तव्य, विधि, सामाजिक दायित्व और इसी प्रकार का हो सकता है। यह जीवन की एक पद्धति है, सम्पूर्णता का मार्ग है, और पुरुषार्थ-चतुष्टय का प्रथम चरण है। यह वह सिद्धान्त है जिसे धारण किया और आचरण में लाया जा सकता है, जिसका पालन किया जाना चाहिए जिसे अपनाना आवश्यक होगा। जिसे स्वीकार करना पड़ता है, जिसे आत्मसात् करने की आवश्यकता है, जो किसी के चरित्र और रूपरेखा के लिए विशिष्ट है, जिसे स्वयं के साथ जोड़ कर देखा जाना चाहिए और जो सभी को शाश्वत तत्व की ओर ले जाता हो। इस अर्थ में धर्म सम्पूर्ण जीवन को सम्पूर्णता में समाहित करता है। धर्म ही अस्तित्व की एक मात्र पहचान है। व्यक्ति का स्व-निर्दिष्ट धर्म अनिवार्य रूप से अन्य व्यक्तियों से पृथक् एवं भिन्न हो सकता है। उदाहरणार्थ, शिक्षक के रूप में किसी का धर्म और इससे इतर भी अपने पिता के रूप में आचरण करते समय या एक भाई के रूप में, एक पुत्र के रूप में, एक पति के रूप में, एक मानव के रूप में, एक नागरिक के रूप में, एक आजीविका के रूप में, एक पड़ोसी के रूप में, एक सैनिक के रूप में, एक व्यवसायी के रूप में, एक ग्राहक के रूप में भिन्न होता है। अत: व्यक्ति को अलग-अलग सामाजिक और सांस्कृतिक दायित्वों के बीच उचित सन्तुलन बना कर रखना पड़ता है और यही धर्म का सच्चा और उचित अनुपालन है।

इस पृष्ठभूमि में 'राजधर्म' शब्द को समझना निश्चित रूप से रुचिपूर्ण होगा। इसलिये राजधर्म को राजनीति या शासन कला तक सीमित नहीं किया जा सकता। राजधर्म शब्द के

विशिष्ट अर्थ और उत्पत्ति को सामाजिक और राजनीतिक धर्म की प्राचीन भारतीय तात्त्विकता के उपयुक्त परिप्रेक्ष्य में समझना होगा। प्राचीन भारत में राजनीतिक दर्शन के विमर्श ने राजधर्म पर विशेष बल दिया है। प्राचीन भारत में गणराज्यों पर प्रचुर मात्रा में साहित्य उपलब्ध है। प्राचीन भारतीय राजनीतिक व्यवस्थाओं पर किये गये अध्ययनों ने सामान्यत: इन गणराज्यों को दो प्रकार की मान्यताओं के साथ स्वीकार किया है। व्याख्याताओं के एक समूह ने उन्हें प्रारम्भिक भारत के उत्तर-आदिवासी, उत्तर-वैदिक, अस्थायी प्रशासनिक व्यवस्था की संज्ञा दी है। विद्वानों के दूसरे समूह ने उनके भौगोलिक विस्तार के आधार पर उनका अध्ययन किया है।

विश्लेषकों के इन दोनों समूहों में इन गणराज्यों के प्रति किंचित् पूर्वाग्रह का परिचय मिलता है जिसमें इन्होंने इसे मध्यकालीन समाज, आदिवासी प्रशासनिक व्यवस्थाएँ, युद्धक शासन आदि कहा है। यहाँ इस तथ्य को किया रेखांकित जाना भी समीचीन होगा कि इन प्राचीन भारतीय गणराज्यों की जन-स्वीकृति और दार्शनिक आधारों का गम्भीर, निष्पक्ष, एवं वस्तुनिष्ठ शोध किया जाना चाहिए जिससे कि इन प्राचीन भारतीय गणराज्यों की ईसा से सहस्रों वर्ष पूर्व के समय में भी वृहद स्तर पर निर्णय लेने की क्षमता और जन-सहभागिता के साथ भवन संरचनाओं और संस्थानों के निर्माण की भारतीय परम्परा की विस्तारित समझ का मार्ग प्रशस्त हो सके। इस प्रकार के प्रयास राजनीति विज्ञान विषय के समाज विज्ञान की सुविचारित एवं सुगठित अकादमिक विधा के रूप में अध्ययन और शोध की सम्पूर्ण रूपरेखा को विशद् रूप में पुनर्गठित तथा पुन: संरचित करेंगे। प्राचीन भारत में शासन कला को भिन्न-भिन्न शब्दों से सम्बोधित किया जाता था, जैसे राजधर्म, दण्डनीति, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, आदि। इसके अस्तित्व की प्रारम्भिक अवधि में इसे राजधर्म की संज्ञा दी गई थी लेकिन अनेक ग्रन्थों में दण्डनीति शब्द के संकेत के लिए पर्याप्त उपलब्ध विवरण हैं जो राजधर्म का वर्णन करते हैं। शासन कला पर विभिन्न आचार्यों ने अर्थशास्त्र शब्द की रचना की जिसके अन्तर्गत शासन के विज्ञान पर पाठ्य पुस्तकों के प्रणयन की एक प्रचलित और स्थापित परम्परा विद्यमान रही है। कालान्तर में शासन कला नीतिशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, राज्यनीतिशास्त्र और राजनीतिरत्नाकर की श्रेणी के अधीन भी वर्णित हुई। राजधर्म के विभिन्न आयामों का वर्णन धर्मसूत्र, महाकाव्यों, स्मृति कृतियों और नीति ग्रन्थों पर प्राचीन भारतीय कृतियों में पर्याप्त रूप में देखने को मिलता है। व्युत्पत्ति के सन्दर्भ में राजधर्म शब्द दो शब्दों से निकलता है - 'राजन्' और 'धर्म'। इन दो शब्दों की संरचना एक पृथक् और अद्वितीय संज्ञा में परिणत होती है जिसका उपयोग क्रिया के रूप में विशिष्ट सन्दर्भों में भी किया जा सकता है। संज्ञा 'राजन्' शब्द का निर्माण संस्कृत धातु 'राज्' से हुआ है, जिसका अर्थ है व्यक्ति या विषयों का कल्याण। इस शब्द में 'धर्म' के दूसरे घटक का मूल धातु 'धृ' में हैं, जिसमें किसी क्रिया की निरन्तरता अथवा उसे बनाये रखने का चित्रण और मन्तव्य है। प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारों में 'राजन्' शब्द का प्रयोग किया गया है जो सामान्यत: राजा का प्रतीक है। इस शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में भी योद्धाओं के समूह की पहचान के लिए किया गया है। कौटिल्य ने भी कुछ स्थानों पर क्षत्रियों के लिए 'राजन्' शब्द का प्रयोग किया है।

आधुनिक भारत के प्राचीन भारतीय संस्कृत परम्परा पर अत्यन्त ख्याति प्राप्त व्याख्याकारों में से प्रमुख के.पी. जायसवाल की मान्यता है कि राजनीतिक सिद्धान्तों और व्यावहारिक शासन के ग्रन्थों को मूल रूप से दण्डनीति या सरकार के सिद्धान्त और अर्थशास्त्र या सार्वजनिक धन के नियम कहा जाता था। कौटिल्य ने बाद वाले को परिभाषित करते हुए कहा - अर्थ मानव आबादी है, जिसका अर्थ है मानव आबादी वाला क्षेत्र। अर्थ (कॉमनवेल्थ) की संहिता उस क्षेत्र के अधिग्रहण और वृद्धि के साधन (कला, उपाय) की संहिता है। 'दण्डनीति' शीर्षक को प्रयोग हेतु उशना द्वारा अपनाया गया था एवं 'अर्थशास्त्र' को बृहस्पति द्वारा स्वीकार किया गया जो हिन्दू शास्त्रीय काल में अपने-अपने राज्य एवं समाज जीवन सम्बन्धित ग्रन्थों के लिए अतीव प्रसिद्ध थे। दण्डनीति का विश्वकोश, जिसका सम्बन्ध प्रजापति से कहा जाता है, का महाभारत में उल्लेख प्राप्त होता है। इस विषय को राजशास्त्र या शासकों के लिए संहिता और राजधर्म या परवर्ती कार्यकाल के लिए शासकों के लिए नियम भी कहा जाता है। इसका उल्लेख महाभारत[2] के शान्तिपर्व में किया गया है। दण्डनीति शब्द की व्युत्पत्ति के बारे में जायसवाल का भी मानना है कि यह शब्द बहुत ही प्राचीन है। के.पी. जायसवाल द्वारा दण्डनीति की शब्दावली के विकास को स्पष्ट और व्यवस्थित रूप में बताया गया है। उनके अनुसार अर्थ एवं दण्ड के पूर्व कार्यों का स्थान "नीति और न्याय शब्दों ने ले लिया है। कौटिल्य के प्रसिद्ध शिष्य कामन्दक भी अपने ग्रन्थ को नीतिसार कहते हैं। शुक्र की पुस्तक, जो अपने वर्तमान रूप में पहले के प्रसिद्ध कार्य का एक संशोधित संस्करण है, सम्भवत: प्राचीन उशना दण्डनीति पर आधारित है, जिसे नीतिसार (शुक्रनीति सार) कहा जाता है। पंचतन्त्र में भी राजनीति की प्रारम्भिक शिक्षा के लिए दन्तकथाओं के रूप और भविष्य के राजनेताओं के लिए प्रस्तावित साहित्य के रूप में न्याय-शास्त्र शब्द के रूप में सम्बोधित किया गया था।"[3] उपाध्याय कहते हैं कि "भारतीय राजनीतिक विचारों के मानदण्ड, मान्यताएँ और परम्पराएँ, कला, नीति और धर्मशास्त्र के गुरुकुलों में सावधानीपूर्वक निर्मित एवं पोषित किये गये हैं और संयोग से प्रारम्भिक महाकाव्यों रामायण और महाभारत में इसका स्पष्ट और विशद उल्लेख मिलता है।"[4]

स्पष्टता, विवरण और निरन्तरता के साथ कई स्थानों पर महाभारत में दण्डनीति की उत्पत्ति का संकेत दिया गया है। महाभारतकार यह घोषणा करता है कि जीवित लोगों को सभी भ्रमों से बाहर लाने के लिए और सांसारिक भौतिक गतिविधियों को संरक्षण प्रदान करने और लोगों के समग्र कल्याण को सुनिश्चित करने के लिए नियमों के रूप में किये गये प्रावधान दण्डनीति के अधीन आते हैं। **असम्मोहाय मर्त्यानामर्थसंरक्षणीय च। मर्यादा स्थापिता लोके दण्डसंज्ञा विशाम्पति।**[5] अथर्ववेद की प्रार्थना में पृथ्वी की क्षमता का वर्णन विभिन्न रीति से बोलने वाले लोगों को कल्याणपूर्वक साथ-साथ बनाये रखने और विभिन्न विधाओं का अवलोकन करने के लिए किया गया है और यह कई अभिव्यक्तियों और धर्म को साथ लेते हुए प्रकृति के साथ सम्पूर्ण सद्भाव में रहते हुए और शान्तिपूर्ण और सौहार्दपूर्ण रूप में संसाधनों की समृद्धि का आनन्द लेने की बात करता है। इसी प्रकार से राज्य के लोगों को

अपने सामाजिक और राजनीतिक जीवन का आनन्द लेना चाहिए। यह प्रार्थना भारतीय परम्परा में प्रचलित आत्मसात् की अन्तर्निहित भावना की समर्थ द्योतक है।

जनं विभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
धारा द्रवणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती।।[6]

कौटिल्य एक ऐसे राजा की बात करता है जो राजा की शक्ति के माध्यम से अपराधियों को दण्डित करने और विधि और व्यवस्था के कठोर पालन को सुनिश्चित करने के लिए एक समर्थ, व्यवस्थित और संगठित सार्वजनिक व्यवस्था विनियमित करता है जिसमें वह अपने कार्यकलाप और अधिकार क्षेत्र के राज्य के सभी लोगों द्वारा अपने-अपने धर्म का पालन कराता है।

चतुर्वर्णाश्रमोलोको राजा दण्डेन पालितः।
स्वधर्मकर्माभिरतो वर्तते स्वेषु वर्त्मसु।।7

प्राचीन भारतीय ऋषि प्रार्थना कर रहे हैं कि राजा को ज्ञान एवं ज्ञानियों के प्रति उदार होना चाहिए। उसे सूर्य की भाँति, ऊर्जा और जीवन प्रदान करने में सक्षम होना चाहिए। यद्यपि उसे मर्यादित होना चाहिए परन्तु कदापि अनियन्त्रित होना चाहिए और उसका सम्पूर्ण ध्यान विधि व्यवस्था को स्थापित कराने में होना चाहिए और उसका कार्य आसान पहुँच और अनुपलब्धता के बीच सन्तुलन बनाना है। **सं पूषन् विदुषा नय यो अज्जसानु शासति। य एवेदमिति ब्रवत्।**[8] वैदिक ऋषियों ने राजा से प्रजा की समृद्धि बढ़ाने और उन्हें श्रेष्ठ जीवन के श्रेष्ठतर अवसर प्रदान करने में अपनी भूमिका के निर्वहन की अपेक्षा की है। अपनी भौतिक समृद्धि की आकांक्षा के अतिरिक्त राजा को उनके नैतिक और मानसिक उत्थान को सुनिश्चित करना चाहिए ताकि वे विद्वानों के प्रति आदर का भाव रखते हुए अपने कार्यों से परम आनन्द को प्राप्त कर सकें।

ये देवा राष्ट्रभृतोऽभितो यान्ति सूर्यम्।
तैष्टैः रोहितः संविदानो राष्ट्रं दधातु सुमनस्यमानः।।[9]

राजा को अपनी सामान्य आकृति व्यवहार में सुन्दर और मनोरम होना चाहिए, परन्तु उसके साथ-साथ, राज्य के नियमों और विनियमों और उनके उचित निष्पादन और अनुपालन के लिए अपरिवर्तित रहना चाहिए। **सुप्रणीतिष्चिकितुषो न शासुः।**[10] गौतम धर्मसूत्र और आपस्तम्ब धर्मसूत्र में अच्छे राजा में होने वाले गुणों का विशद् वर्णन किया गया हैं। इस सम्बन्ध में यह आशा की गयी है कि राजा को अज्ञान, लालच, क्रोध, वासना, मोह, आदि दोषों से मुक्त होते हुए पवित्र ग्रन्थों से अच्छी तरह से परिचित और इन सबसे परे एक महान वक्ता होना चाहिए। उसे आगामी घटनाओं का पूर्वानुमान और कल्पना करने में सक्षम होना चाहिए और कर्त्तव्य की समझ और परिस्थिति के अनुसार इसमें परिवर्तन के लिए तैयार रहना चाहिए। इन विशेषताओं से वह एक परिपूर्ण राजा बन जाएगा जो अपने तन्त्र के माध्यम से सुशासन देने में समर्थ होगा।

राजा प्राड्विवाको ब्राह्मणो वा शास्त्रवित्।
शिष्टा: खलु विगतमत्सरा: निरहंकारा कुम्भीधान्या:।
अलोलुपा: दम्भदर्भलोभमोहक्रोध विवर्जितो:।
धर्मेणाधिगतो येषां वेदस्सपरिब्रह्मण।
शिष्टास्तदनुमानज्ञा: श्रुतिप्रत्यक्षहेतव:।।[11]

अथर्ववेद राजा की उस नैतिक शक्ति के बारे में बात करता है जो उसकी शक्ति में अभिवृद्धि प्रदान करते हुए राज्य के रक्षार्थ प्रयोग की जा सके। उसका चरित्र राज्य के शासन की प्रकृति को अत्यन्त प्रभावित करेगा। इन वैदिक प्रार्थनाओं से हमें राजा से अपेक्षाओं और नियमित रूप से शासन करने की क्षमता बढ़ाने की पद्धतियों का अनुमान होता है।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते।[12]

अथर्ववेद की निम्नलिखित प्रार्थना राजा के कल्याण के लिए है ताकि वह लोगों के संरक्षण और कल्याण के लिए अपने कर्त्तव्य का निर्वहन कर सके। **इन्द्राग्नी विश्वे देवा: विशि ते क्षेममदीधरन्।**[13] अन्य प्रार्थनाओं में यह कामना है कि वह सभी देवताओं के सम्पर्क में रहे और उनके आशीर्वाद से लोगों द्वारा उसको नैसर्गिक रूप से ही शासक स्वीकार किया जाए और सभी दिशाओं और क्षेत्र के लोग उसे स्वीकार करते हुए उसके शासन को वैधता प्रदान करें। **विशो वृणतां राज्याय त्वमिमा: प्रदिश: पञ्च देवी:।**[14] यजुर्वेद का एक मन्त्र यह बताता है कि राजा अपने राज्य के लोगों के मन और मस्तिष्क में बने रहने पर ही स्थिर और सुरक्षित है। **विशि राजा प्रतिष्ठित:।**[15] अथर्ववेद की एक और प्रार्थना एक परिवार के सदस्यों के रूप में लोगों के बीच सद्भाव और समन्वय की बात करती है जो यह अनिवार्य रूप से गौरव का मार्ग प्रशस्त करेगी। **जाया: पुत्रा: सुमनस: भवन्तु।**[16] एक अन्य प्रार्थना में राजा द्वारा जीवन की बेहतर परिस्थितियों को प्रदान करने और लोगों द्वारा ज्ञान, समृद्धि और धन सुनिश्चित करने के लिए सभा, समिति और सेना (सेना) के बीच समन्वय स्थापित करने की इच्छा व्यक्त की गयी है। **सभ्यं सभां मे पाहि ये च सभ्या: सभासद:।**[17] ऋग्वेद के एक ऋषि की प्रार्थना है कि एक राजा राज्य के सभी क्षेत्रों के लोगों की सहमति के माध्यम से व्यापक स्वीकृति और वैधता प्राप्त करता है। यह भावना अन्य वैदिक प्रार्थनाओं में भी दिखाई देती है। **विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु।**[18]

सभा और समिति की भारतीय परम्परा वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर इंगित की गयी है। ये दोनों संस्थान हमें भागीदारी और निर्णय लेने की प्रक्रियाओं के बारे में बताते हैं। उत्तर-वैदिक काल में, सभा और समिति के उल्लेखों को राजधर्म और दण्डनीति के साहित्य में प्रमुख स्थान मिला है। अथर्ववेद का यह मन्त्र सभा और समिति की उत्पत्ति और कार्य के बारे में प्रश्न करता है और यह भी अपेक्षा रखता है कि इन दोनों निकायों के विचार-विमर्श लोगों के समग्र विकास में सहायक हो। यह बड़े पैमाने पर लोगों के लिए धन और गौरव अर्जित करेगा।

सभा च मा समिति श्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षच्चारु वदानि पितर: संगतेषु।।[19]

बौधायन धर्मसूत्र में राजा को पहले चरण के रूप में एक पुरोहित को चयन करने की आवश्यकता होती है ताकि उसे धर्म से सम्बन्धित विषयों में आवश्यक मार्गदर्शन प्राप्त हो सके। **सर्वतो ध्रुवं पुरोहितं वृणुयात्।**[20] ऐसी ही एक प्रार्थना में, राजा सदस्यों से अनुरोध कर रहा है कि सभा का व्यवहार ऐसा हो जिससे कि राजा के साथ-साथ व्यक्तियों की भी रक्षा हो और उचित पद्धति से राजधर्म का निष्पादन भी सुनिश्चित किया जा सके। **तं सभा समितिश्च सेना च।**[21]

सभा की रूपरेखा और कार्यप्रणाली पर चर्चा करते हुए, पराशर गृह्यसूत्र घोषणा करता है कि एक सभा तभी शोभायमान होती है जब उसका उचित समन्वय हो और उसके सदस्य अर्थपूर्ण हों। इसलिये वह सभा के सदस्यों के बीच सौहार्द्र, समन्वय और सहयोग की आवश्यकता पर बल देता है। इसके अतिरिक्त सदस्यों के उचित चयन की बात करता है। **सहधर्मेण सद्भिर्वा भातीतिसभा।**[22] गौतम धर्मशास्त्र में वर्णित है कि राजा द्वारा व्यक्तियों, संस्थाओं और परिवेश के अनुसार कर संग्रह पृथक् एवं भिन्न हो सकता है। यह अनिवार्य रूप से एक का छठा अंश नहीं है लेकिन कुछ परिस्थितियों में भी एक का आठवाँ या एक का दसवाँ अंश भी हो सकता है। **राज्ञो बलिदानं कर्षकैर्दषममष्टमं षष्ठं वा।**[23] नारद स्मृति न्यायिक प्रशासन के लिए एक सुनहरा नियम निर्धारित करती है और घोषणा करती है कि संघर्ष समाधान की सभी तकनीक इस प्रकार की हों जिससे सभी पक्षों का निराकरण एवं निवारण हो पाए। यह न्यायिक शासन की कुंजी है।

यत्र सभ्योजजनः सर्वः साध्वेतदितिमन्यते।
स निःशल्यो विवादः स्यात् सशल्यः स्यादतोऽन्यथा।।[24]

अलग-अलग स्थानों पर और विभिन्न उदाहरणों में यह देखा गया कि भारतीय राजनीति, दण्डनीति या राजधर्म पर सभी लेखकों का यही विचार रहा है कि राजा को आत्म-नियन्त्रण प्राप्त करना चाहिए। अपने अंगों पर आत्म-नियन्त्रण प्राप्त राजा ही सफलतापूर्वक शासन कर सकता है। अन्यथा वह निकटवर्ती के दोषों से व्याप्त हो घिर जाएगा और अपने विरोधियों के लिए दुर्बल हो जाएगा। इसलिये उसे अपने शरीर और मानस पर नियन्त्रण पाने के लिए सभी उपाय करना चाहिए।

जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थाययितुं प्रजा।
आत्मा जेयः सदा राजा ततो जेयाश्च शत्रवः।
अजितात्मा नरपतिर्विजेयेत कथं रिपून्।।
एकस्य हि योशक्तो मनसः सन्निवर्हणे।
महीं सागरपर्यन्तां सकथं द्यवजेष्टति।।[25]

अत्रि स्मृति का श्लोक राजधर्म के दायरे को परिभाषित करने की भारतीय परम्परा का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। प्राचीन भारतीय दार्शनिक मानते हैं कि एक राजा के धर्म में अनिवार्य रूप से दुष्टों को दण्ड देना, सज्जनों को आश्रय प्रदान करना, राजस्व का संचालन सुपात्र व्यक्तियों के हाथों में देते हुए इसमें अभिवृद्धि करना, निष्पक्ष प्रशासन और राज्य की

सुरक्षा करना है। राजधर्म की यह अद्भुत परिभाषा प्राचीन भारत के सुशासन के विचार का सच्चा चित्रण है।

दुष्टस्यदण्डः स्वजनस्य पूजा न्यायेन कोशस्य हि वर्धनं च।
अपक्षपातः निजराष्ट्ररक्षा पञ्चैव धर्माः कथिता नृपाणाम्।।[26]

यजुर्वेद का यह विशेष मन्त्र एक समृद्ध राष्ट्र के लिए प्रार्थना करता है, जिसमें नैतिक, मानवीय और बहुआयामी विकास को सुनिश्चित करने के साथ समाज के सभी वर्गों के कल्याण और सम्पन्नता को सुनिश्चित किया गया है। योगक्षेम का यह आयाम एक आदर्श राज्य के प्राचीन भारत के विचार और राजधर्म की गतिविधियों के अन्तिम उद्देश्य को चित्रित करने का नितान्त आश्चर्यजनक पक्ष है। **योगक्षेमो नः कल्पताम्।**[27] अपेक्षाकृत बाद के भारतीय दार्शनिक सोमदेव सूरी ने घोषणा की कि राजधर्म राज्य के माध्यम से धर्म की सुरक्षा और परिपूर्णता है। **अथ धर्मफलाय राज्याय नमः।**[28]

महाभारत में कहा गया है कि जो कोई भी अपने कल्याणकारी प्रयासों के साथ वृहद जन-रंजन करता है उसे राजन् कहा जाता है। राजा द्वारा ली गई शपथ यह स्पष्ट करती है कि वह राजा के रूप में पद भार ग्रहण करते समय समाज के साथ एक नैतिक अनुबन्ध में प्रवेश कर रहा है। महाभारत और अन्य स्थानों पर उल्लिखित श्लोक इसी प्रभाव का उल्लेख करते हैं। "आप सज्जन जो भी मुझे बताते हैं और जो राजनीति विज्ञान के अनुसार उचित है, मैं बिना किसी अवरोध के आपके लिए वह करूँगा।"

यन्मां भवन्ती वक्ष्यन्ति कार्यामर्थसमन्वितम्।
तदहं वः करिष्यामि नात्रकार्या विचारणा।।
अद्यारम्भ न मे राज्यं राजाऽयं रक्षतु प्रजाः।
इति सर्वं प्रजाविष्णुं साक्षिणं श्राषयेन्मुहुः।।[29]

इस नैतिक अनुबन्ध के कारण ही वह निरंकुश अथवा स्वेच्छाचारी नहीं हो सकता। जायसवाल के अनुसार यह स्पष्ट है कि वह मनमाना नहीं हो सकता। वह विधि से बँधा है। विधि के अन्तर्गत मर्यादित किया जाता है। उसने स्थापित विधि के अनुसार कार्य करने का प्रण किया है। इससे आगे वह राजनीति विज्ञान के नियमों से बँधा हुआ था। ये दोनों आन्तरिक प्रशासन और विदेशी सम्बन्धों में अपने कार्यों को विनियमित करने के लिए किये गये थे और उसने कभी उनकी अवहेलना करने के लिए इन दायित्वों को नहीं स्वीकारा।[30] उपाध्याय ने भी इसी प्रकार से अपना तर्क प्रस्तुत किया है कि "वेदों का राज्याभिषेक स्तोत्र उन मान्यताओं का स्मरण दिलाता है जिसमें राजा व्यक्तियों के कल्याण, शान्ति और सुरक्षा के लिए राज्य की पवित्र आस्था का संरक्षक होता है। वह राज्य के विषयों को कुशलतापूर्वक संचालित करने के लिए है ताकि वह न्याय और धार्मिकता की आवश्यकताओं को गति प्रदान करते हुए इसे प्रोत्साहित कर सके।[31] यह भी देखा गया है कि राजा केवल उसी सीमा तक दिव्य है जब तक कि वह सामान्य व्यक्ति की तुलना में अपने कर्त्तव्यों का समुचित पालन कर रहा हो। इससे उसे दायित्व का बोध होता है और वह उस पद के योग्य बनता है। इसलिये जायसवाल का

तर्क है कि "जो देश उसके पर्यवेक्षण के अधीन है वो ईश्वर से कम नहीं है जिसका अर्थ राजत्व की सत्यनिष्ठा, सम्मान और विस्मय का द्योतक है। यह सम्बन्ध पितृसत्तात्मक, लोकतान्त्रिक या कुलीन होने से बहुत दूर है।[32] इसलिये, हम यह मान सकते हैं कि राजा द्वारा धर्म के रूप में अपनी दायित्वों को निभाते हुए लोगों के कल्याण के लिए प्रयास करना राजधर्म के रूप में समझा जाना है। महाभारत 'सनातन धर्म' के रूप में लोक कल्याण के लिए सौंपे गये राजा के कर्त्तव्यों पर विस्तृत प्रकाश डालता है।

वाल्मीकि, व्यास और कालिदास के कार्यों का एक व्यापक अध्ययन हमें एक विशिष्ट प्रबुद्धता प्रदान करता है कि प्राचीन भारत के इन तीनों शक्तिशाली और प्रभावशाली लेखकों में एक बात समान थी। ये तीनों न केवल भारत के राजनीतिक शासन की भिन्नताओं और विविधताओं को समझते और पहचानते हुए भी भारत के विषय में अपनी अवधारणा में एक राष्ट्र (सांस्कृतिक रूप से एकीकृत राष्ट्र) के रूप में मानने में अद्वितीय और समान थे बल्कि राष्ट्रीय चेतना के निर्माण में सांस्कृतिक सन्दर्भों और एक अन्तर्निहित सम्बन्ध को भी स्वीकार करते थे। भौगोलिक मानचित्रण, सामाजिक और सांस्कृतिक महत्व के स्थानों की समानताएँ, नदियों के प्रति सदियों से प्रमाणित श्रद्धा, तीर्थ (पूजा और बुद्धि के स्थान), कथानकों की परस्पर-सम्बद्धता, धर्म का पालन, वर्णाश्रम संरचनाओं का पालन, पहले के सन्तों, चिन्तकों, लेखकों और विचारों का सम्मानजनक सन्दर्भ, सनातन धर्म और उसके सिद्धान्तों की सराहना, भारत की प्राकृतिक राष्ट्रीय सीमाओं का पर्वतों से सागर पर्यन्त निरन्तर उल्लेख, आदि इन तीनों प्राचीनतम कवि मनीषियों के साहित्य में सामान्य सूत्र की भाँति स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। इसके अतिरिक्त, इन सभी ने शासन के निर्दिष्ट उद्देश्यों और सीमाओं के साथ शासन के एक सामान्य स्तर पर स्वीकृत विचारों को प्रस्तुत किया है। इन तीनों ने छोटे राज्यों को निरन्तर प्रदेश के रूप में उल्लिखित किया है। प्राचीन भारतीय राजनीतिक दृष्टि की व्यापक समझ को इस तथ्य से और भी विस्तृत किया जा सकता है कि इन तीनों के पास भारत को एक राष्ट्र के रूप समझने के विचार बहुत पृथक् तथा भिन्न थे और उनके लेखन में छोटी इकाइयों का उल्लेख नहीं वरन् भारत को सम्पूर्णता में देखा गया था। यह उन्हें भारत के गौरवशाली अतीत के अद्वितीय, विशेष और अत्यन्त अद्भुत राजदूत के रूप में स्थापित करता है।

भारतीय द्रष्टाओं के अनुसार, राज्य के विकास का प्रारम्भिक चरण, जिसे सामान्यत: पश्चिमी विचारकों द्वारा प्राकृतिक स्थिति कहा गया है, प्रजापति राज्य था। प्रजापति के इस राज्य की पहचान महाभारत के शान्तिपर्व में की गयी है क्योंकि सार्वजनिक व्यवस्था के पास न राज्य था, न राजा, न नियामक, और न ही किसी को दण्ड देने का कार्य निर्दिष्ट था। लोग शान्ति से रह रहे थे और अपने निर्धारित धर्म के अनुसार एक दूसरे की रक्षा कर रहे थे। यह चरण न ही अवैधता का है और न ही किसी अराजकता का। यह भी सत्य है कि यह आदर्श राज्य नहीं था बल्कि यह समाज में प्रचलित लोक व्यवस्था की प्रारम्भिक प्रकृति का चित्रण है, जिसमें लोगों की दुष्ट प्रवृत्ति ने अपने व्यक्तिगत चरित्र का क्रियात्मक आरम्भ नहीं

किया था और सामाजिक व्यवस्था को विचलित भी नहीं किया था। लेकिन किसी प्रकार व्यक्तियों ने अनुचित व्यवहार का पालन करना आरम्भ कर दिया और दुष्टता का प्रसार होने लगा। वे प्रजापति के दिशा-निर्देशों का उल्लंघन कर रहे थे और धर्म के मार्ग से भटकने लगे थे। इन स्थितियों में ब्रह्मा से अनुरोध किया गया कि वे समाज की इस अनिश्चित स्थिति का समाधान प्रस्तुत करें, जिन्होंने बाद में एक नीतिशास्त्र की रचना की जिसमें धर्म, अर्थ और काम को भी सम्मिलित किया गया। इस प्रकार इसे त्रिवर्ग शास्त्र कहा गया। इस त्रिवर्ग शास्त्र की सरल व्याख्या तथा सामान्य व्यक्तियों तक इसका प्रारम्भिक ज्ञान पहुँचाने के लिए अनेक धर्मशास्त्रों का उदय हुआ, जिन्होंने राजा की संस्था को जन्म दिया।

इस प्रकार प्राचीन भारत में राजधर्म को राज्य के राजाओं के सामाजिक और सांस्थानिक मामलों के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है जिसका लक्ष्य प्रजा के कल्याणप्रद जीवन और उसके समग्र विकास की प्राप्ति में सन्निहित है। प्राचीन भारत में राजधर्म की सांस्कृतिक संरचना का यह नैतिक आधार राजाओं को अपने अधिकार, कर्त्तव्य, प्रभाव शक्ति के माध्यम से राज व्यवस्था के स्थापित नियम और विधि के अनुसार उसके स्वधर्म और राज्य संचालन हेतु और उत्सुक और सजग बनाता है। इस तरह देखा जाए तो राजधर्म समस्त राज्य पद्धति की जीवनरेखा है जो समस्त पूरक-पद्धतियों को उचित दिशा प्रदान करता है और प्रजा को उनके अपने कर्त्तव्य और धर्म की ओर उन्मुख करता है। अत: प्रजा के लिए राजधर्म, उनके अपने अस्तित्व का सार्थक प्रतिबिम्ब है जो उसे पुरुषार्थ चतुष्टय का मार्ग अपनाने में एकमात्र रीति के रूप में सुगमता प्रदान करता है। वस्तुत: राजधर्म का विस्तार और प्रसार, मानव जीवन के लगभग सभी पक्षों से सम्बद्ध है। राजधर्म व्यक्ति विशेष को न केवल राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक विकास प्रदान करता है, अपितु उनकी कल्याण-केन्द्रित जीवन यात्रा में तथा धार्मिक और आध्यात्मिक विकास में भी विशेष रूप से सहायता करता है। भारतीय पारम्परिक ज्ञान के अनुसार, राजधर्म मनुष्य के वर्तमान और भविष्य के कल्याण को सुनिश्चित करता है।

कहा जाता है कि महाभारत के शान्तिपर्व में उल्लिखित राजधर्म के पूर्व भी प्राचीन भारत में सुगठित एवं सुव्यवस्थित राजनीतिक विचारों के साक्ष्य मिलते हैं। आत्रेय ब्राह्मण काल से ही हिन्दू गणतन्त्र के अस्तित्व और उसकी समृद्धि के प्रमाण उपलब्ध हैं। प्राचीन हिन्दुओं ने समाज के सभी वर्गों के लिए अभिषेक जैसी विशिष्ट प्रक्रियाओं के तकनीकी विधान का विकास बहुत पहले कर लिया था। उन्होंने कुछ शताब्दियों तक आत्रेय ब्राह्मण की रचना से पूर्व उन विधानों में प्रयोग किया होगा। इस वैदिक कार्य की तिथि 1000 ई.पू. मानी जाती है। यह ग्रन्थ परीक्षित के पुत्र राजा जनमजेय के बारे में बात करता है जिसका उल्लेख उपर्युक्त शताब्दी के अन्त में है। आत्रेय ब्राह्मण के अनुसार, आर्य भारत के बृहत्तर भाग उत्तर, पश्चिम और दक्षिण का शासन-तन्त्र लोकतान्त्रिक संविधान पर आधारित था। मध्यदेश को छोड़कर जहाँ राजतन्त्र प्रचलित था और इससे पूर्व की ओर प्राची में (इसके केन्द्र में या मगध में), ब्राह्मण के अनुसार, साम्राज्य नामक संविधान हुआ करता था जिसका शाब्दिक अर्थ राजतन्त्र

का संयोजन, अर्थात् एक प्रमुख सदस्य के आसपास एक संघीय साम्राज्यवाद था। दोआब और मगध को छोड़कर पूरा देश लोकतान्त्रिक था। पाली भाषा के विद्वानों द्वारा बताया गया है कि बुद्ध के समय में भी लगभग ऐसा ही था।[33]

प्राचीन भारत में राजधर्म की विषय-वस्तु और विषय सामग्री अत्यन्त विशाल और वस्तुत: समावेशी रही है। शासन कला में सामाजिक, प्रशासनिक, न्यायिक और वित्तीय नियमों के साथ राज्य की संस्थागत संरचना को सम्मिलित करने के अतिरिक्त राजधर्म नैतिक मूल्यों, सांस्कृतिक बन्धनों, धार्मिक विकास, आर्थिक स्थिरता और शक्ति-संचालित अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का भी प्रचुर महत्व हुआ करता था। सामान्यत: मानव जीवन का ऐसा कोई भी विशिष्ट पक्ष अथवा आयाम नहीं था जो कि प्राचीन भारत में राजधर्म में सम्मिलित, नहीं किया गया था। इसलिये राजधर्म का वास्तविक उद्देश्य सभी का कल्याण, जनता की सर्वोच्चता, सभी का विकास और सभी का सुख था।

महाभारत प्राचीन भारत में एक ऐसा महाकाव्य ग्रन्थ है जो राजधर्म और उसके आयामों का विस्तृत, गहन, स्वतन्त्र, संगठित और व्यवस्थित विवरण प्रदान करता है, जो किसी भी अन्य प्राचीन भारतीय कार्यों की तुलना में श्रेष्ठतम है। राजधर्म महाभारत के आदिपर्व, सभापर्व, विराटपर्व, उद्योगपर्व, भीष्मपर्व, शान्तिपर्व, अनुशासनपर्व, आश्वमेधिकपर्व और आश्रमवासिकपर्व में उल्लिखित और वर्णित है। महाभारत के 18 पर्वों में से, शान्तिपर्व, विशेष रूप से, राजधर्म के अधिकांश पक्षों का एक विश्वकोश है। शान्तिपर्व के तीन उप-खण्ड, अर्थात् राजधर्मानुशासन पर्व, आपद्धर्मपर्व और मोक्षधर्मपर्व में राजधर्म का विशिष्ट वर्णन मिलता है। महाभारत का शान्तिपर्व बृहस्पति, विशालाक्ष, शुक्राचार्य, इन्द्र, उशना, महेन्द्र, भारद्वाज, गौरश्रवा को राजनीति विज्ञान के प्रतिपादकों के रूप में स्वीकार करता है। राजधर्म की उत्पत्ति ब्रह्मा से जुड़ी हुई है, जिन्होंने एक लाख अध्याय की रचना की थी। यह उल्लेख किया गया है कि भगवान ने स्वयं ब्रह्मा द्वारा रचित कार्य की प्रामाणिकता पर अपनी सहमति व्यक्त की थी कि यही पूरे लोकतन्त्र में धर्म का प्रचार करेगा।

प्राचीन भारतीय विचारों में राजधर्म की पहचान राजनीतिक व्यवस्था के सांस्थानिक तन्त्र के रूप में ही की गई है। राज्य ही किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में वर्णित होने वाला पहला संस्थान है। राज्य का राजनीतिक व्यवस्था की परिधि में केन्द्रीय स्थान है। राज्य की उत्पत्ति राजधर्म में भी बताई गई है। महाभारत में 'मत्स्यन्याय' के सिद्धान्त के विकल्प के रूप में दिव्य उत्पत्ति और सामाजिक सम्पर्क के सिद्धान्त को निर्धारित किया गया है। आगे मत्स्यन्याय को समझाते हुए, महाभारत कहता है कि जिस प्रकार बड़ी मछलियाँ समुद्र में अपने भोजन के रूप में छोटी मछलियों का उपभोग करती हैं, वैसे ही शक्तिशाली और पराक्रमी दुर्बलों को लूटते और प्रताड़ित करते हैं। किसी भी जीवित प्राणी के लिए यह अराजकता अच्छी नहीं होती। इससे दुर्बल लोगों के साथ निरन्तर अन्याय की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और परिणामस्वरूप वे जीवन भर पीड़ित स्थिति में रहने के लिए विवश हो जाते हैं। इस अराजकता को समाप्त करने के उद्देश्य से राज्य का गठन हुआ। अधिकांश प्राचीन भारतीय

लेखकों ने अवधारणात्मक अराजकता की दृढ़ता से आलोचना की है और इससे शीघ्रातिशीघ्र छुटकारा पाने की सम्मति दी है। यही राज्य के उद्भव और उत्पत्ति के अपरिहार्य विमर्श के रूप में परिणत हुआ है।

मनु ने राजधर्म को एक राजनीतिक विमर्श बताया है। मनु ने राजा और राज्य के अन्तर को नहीं स्वीकारा और राजत्व की दिव्य उत्पत्ति पर जोर दिया। उनके शब्दों में, इस अराजक विश्व में सभी लोग अत्यधिक भय से ग्रस्त थे और इसलिये, समस्त विश्व अथवा ब्रह्माण्ड की सुरक्षा के उद्देश्य से भगवान ने राजा का सृजन किया है। इस क्रम में, मनु ने राजत्व की उत्पत्ति के तीन कारणों को बताया है। पहला प्रकृति में अराजकता का अस्तित्व, दूसरा प्रजा की सुरक्षा के लिए राज्य की उत्पत्ति और तीसरा ईश्वर द्वारा प्रदत्त राजा का दायित्व। अपनी उत्पत्ति के माध्यम से राज्य मानव अस्तित्व को सम्पूर्णता प्रदान कर सभी को अराजकता के परिवेश से बाहर लाता है।

कौटिल्य ने राज्य की उत्पत्ति पर विस्तार से या विशेष रूप से कुछ नहीं बताया है। हालाँकि, अर्थशास्त्र के पहले भाग के तेरहवें अध्याय में, हमें राजा के दो गुप्तचरों के बीच संवाद के माध्यम से राज्य की उत्पत्ति की चर्चा से कुछ तत्वों का पता चलता हैं, जिनमें से एक में अराजकता के अवगुणों का वर्णन है जिसके लिए उसी तर्क 'मत्स्यन्याय' और शक्तिशाली व्यक्तियों द्वारा दुर्बलों के उत्पीड़न की बात कही गयी है। उत्पीड़न को समाप्त करने और अराजकता से प्रजा को सम्बल प्रदान करने के लिए, लोगों ने मनु को अपने राजा के रूप में अभ्यंजित किया। कृषि उपज का छठा योगदान, व्यापार से होने वाली आय का दसवाँ भाग और थोड़ी मात्रा में सोना भी राजा को कर राजस्व के रूप में दिया जाना निश्चित किया गया। बड़े स्तर पर लोगों की आय से निर्धारित कर की सीमा के आधार पर, राजा ने अपने कन्धों पर प्रजा के योगक्षेम का समस्त दायित्व ग्रहण किया था। इस विचार को कौटिल्य द्वारा राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त की स्वीकृति और समर्थन समझा जाता है।

शुक्रनीति भी दिव्य सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में राज्य की उत्पत्ति के बारे में बताती है। परन्तु राज्य के दिव्य मूल के पारम्परिक विचारों में महत्वपूर्ण संशोधन प्रस्तुत करती है। जबकि शुक्रनीति भी राजा के अस्तित्व में दैवीय तत्वों के गठजोड़ की बात करती है, फिर भी शुक्र का तर्क है कि राजा का अन्तिम उद्देश्य न केवल अपने लोगों को सुरक्षा प्रदान करना है बल्कि अन्तर्निहित दैवीय विशेषताओं से युक्त राजत्व को बनाये रखते हुए उचित राजस्व को भी एकत्रित करना है। राज्य की उत्पत्ति के दिव्य सिद्धान्त के अधिकांश प्रस्तावकों या प्रचारकों ने राजा को ईश्वर के समकक्ष माना है परन्तु शुक्र एक ऐसे दार्शनिक हैं जो राजा के प्रत्यक्ष ईश्वर होने की अवधारणा का पूरी तरह समर्थन नहीं करते हैं। उनके अनुसार राजा न तो ईश्वर का अवतार है और न ही उसके अधिकार दिव्य हैं। शुक्र ने उसके कर्त्तव्यों और दायित्वों की दिव्यता का विस्तार से वर्णन किया है। उनके अनुसार, राजा की विशेषताएँ और कार्य तीन प्रकार के हो सकते हैं, अर्थात सात्विक, राजसिक और तामसिक। राजा के कार्यों

और गुणों में परिलक्षित सिर्फ इन तीन विशेषताओं के आधार पर राजा को राक्षसंशी (दानव), मानवांशी (मानव), देवतांशी (दिव्य) के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। इसलिये वह राजा, जिसके पास सात्विक गुण हों और जिसकी कार्यप्रणाली उन गुणों के उस अनुरूप हो, उसे ही एक दिव्य राजा का स्थान दिया जा सकता है किसी अन्य को नहीं। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि शुक्र के राज्य की उत्पत्ति के दिव्य सिद्धान्त में, अन्य प्रासंगिक सिद्धान्तों की तुलना में महत्वपूर्ण मौलिकता है।

राज्य की उत्पत्ति के बारे में प्राचीन भारतीय विचारकों द्वारा प्रचारित लगभग सभी विचारों और सिद्धान्तों में एक सामान्य तत्व है। इस सामान्य तत्व को अराजकता युक्त दैवीय राज्य की तुलना में शान्तिपूर्ण एवं व्यवस्थित नियामक के सर्वनिष्ठ तथ्य के रूप में रेखांकित किया जा सकता है। दिव्य सिद्धान्त अनिवार्य रूप से राजा या शासक के अधिकार और स्थिति को मजबूत करने के लिए राजत्व में दैवीय तत्व को रेखांकित करता है।

प्राचीन भारतीय विचारों में राज्य के तत्वों को राजधर्म के मूल स्रोतों के रूप में व्यक्त किया गया है। प्रचलित मान्यताओं के अनुसार शासन कला के संचालन के लिए विभिन्न कार्यात्मक तत्वों की आवश्यकता होती है। एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त के अनुसार राज्य के तत्वों की आवश्यकता मानव शरीर के विभिन्न भागों के भौतिक समन्वय में सैद्धान्तिक उत्पत्ति का पता लगाती है ताकि मनुष्य सही प्रकार से कार्य कर सके। इसी प्रकार राज्य में भी सात तत्व सम्मिलित हैं, जैसे स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड, मित्र। प्राचीन भारत के दार्शनिकों ने उन्हें पृथक्-पृथक् नामों से सम्बोधित किया है जैसे सप्तांग प्रकृतिसम्पदा, सप्तप्रकृति, राज्यप्रकृति, आदि। अनेक प्राचीन भारतीय विचारकों ने इन सातों तत्वों को समान रूप से पूरक माना है और राज्य की कार्य व्यवस्था में समान महत्व दिया है। प्राचीन भारत के सातों तत्वों का महाभारत, मनुस्मृति, कौटिल्य अर्थशास्त्र, शुक्रनीति, कामन्दकनीतिसार आदि लगभग सभी महत्वपूर्ण कार्यों में विश्लेषणात्मक वर्णन और व्यवस्थित पद्धति से चर्चा उपलब्ध है। विभिन्न विचारकों में राज्य के इन सात तत्वों के अनुक्रम और पदानुक्रम में हमें महत्वहीन भिन्नताएँ तो दिख सकती हैं परन्तु सभी में राज्य के इन सात तत्वों की समानता और सप्तांग के विचारों की अति महत्वपूर्ण स्वीकार्यता के संकेत विद्यमान हैं।

महाभारत इन सातों तत्वों की अन्तर-श्रेष्ठता के प्रश्न को भी सम्बोधित करता है। आधुनिक राज्य के तत्वों की समकालीन परिचर्चा में भी कौन सा तत्व एक-दूसरे की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण है - के प्रश्न को सम्बोधित किया है। इस सन्दर्भ में इस गम्भीर प्रश्न की निर्णायक चर्चा में रानी सुलभा और राजा जनक के बीच एक संवाद का उल्लेख मिलता है, जिसमें कहा गया है कि समय-समय पर शरीर के सभी तत्व अपनी विशिष्ट उपयोगिता और विशिष्टता प्रमाणित करते हैं, परन्तु इनमें से प्रत्येक तत्व का महत्व निर्दिष्ट कार्य करने के लिए अपनी क्षमता विशेष पर निर्भर करता है। इसलिये राज्य के सप्तांग के तत्वों में से किसी की श्रेष्ठता को निर्धारित क्षेत्र में उसके प्रदर्शन के निश्चित तय किया जाना है। इन्हीं विचारों

को मनु का भी समर्थन प्राप्त है। मनु ने कहा है कि सप्तांग के प्रत्येक तत्व की प्रकृति और रूपरेखा उसके विशिष्ट स्थान के निर्धारण पर आधारित है। हालाँकि, मनु ने इन सातों तत्वों के अनुक्रमण पर जोर दिया है, जो उस विशेष तत्व के महत्व को निर्धारित करेगा परन्तु उन सभी को एक दूसरे के साथ सहयोगात्मक, सामूहिक रूप से और एक-दूसरे के प्रति पूरक होना होगा। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में अन्य तत्वों की तुलना में राजत्व को महत्व दिया क्योंकि उनके अनुसार राजा को सप्तांग के सभी सात तत्वों के समन्वयक के रूप में कार्य करना पड़ता है। शुक्राचार्य ने अपने पूर्ववर्तियों का ही अनुसरण किया है और राजा को केन्द्रीय महत्व दिया है, क्योंकि यह वही है जो राज्य के शरीर को सम्यक् खड़ा करने के लिए आधार प्रदान करता है।

इसलिये हम यह देखते हैं कि प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारकों ने एक औपचारिक राज्य को आकार देने के लिए सात तत्वों के अस्तित्व को स्वीकार करके एक सुदृढ़ राज्य बनाने का प्रयास किया है। यह देखा गया है कि राजा को न केवल अन्य तत्वों में प्रकृति, रूपरेखा और विशेषताओं के अनुसार समन्वय करना चाहिए बल्कि उल्लंघन करने वालों को दण्डित भी करना चाहिए। महाभारत ने स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि कोई भी, चाहे कितना भी महत्वपूर्ण हो अथवा किसी भी पद पर हो, सप्तांग के इन सात तत्वों के अधिकार क्षेत्र का उल्लंघन करने पर उसे कठोर दण्ड दिया जाना चाहिए। इस प्रकार राज्य का सप्तांग व्यक्तियों और समाज के योगक्षेम को पाने का प्रवेश द्वार है।

महाभारत सम्भवत: व्यवस्थित रीति से शासन के विज्ञान के विषय में प्रथम भारतीय ग्रन्थ है। इसमें सभापर्व और वनपर्व के अतिरिक्त शासन के विभिन्न पक्षों पर विस्तृत चर्चा करने वाला एक विशाल राजधर्म खण्ड शामिल है। महाभारत के राजधर्म खण्ड में शान्तिपर्व का एक महत्वपूर्ण भाग है। महाभारत युद्ध के पूर्ण होने पर युधिष्ठिर के नेतृत्व में पाण्डवों का विजयी समूह राज्य का प्रशासन चलाने के लिए मार्गदर्शन लेने के लिए पितामह भीष्म के पास जाता है। कथा के अनुसार भीष्म युद्ध क्षेत्र में शर-शय्या पर लेटे हुए थे और उत्तरायण होने तक अपनी मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहे थे। राजा युधिष्ठिर ने भीष्म से अनुरोध किया कि वे उन्हें सुशासन की पद्धति निर्देशित करें। यह पूरा प्रकरण महाभारत के शान्तिपर्व में सन्निहित है। यद्यपि राजधर्म के बारे में आगामी चर्चा बहुत विस्तृत है और राजधर्म पर एक सौ तीस अध्यायों और आपद्धर्मपर्व में बयालीस अध्यायों में विस्तीर्ण है, तथापि महाभारत के इस मुख्य भाग का प्रसंग एक अच्छे, लोकप्रिय, कर्त्तव्यपरायण राजा के कर्त्तव्यों भूमिका और कार्यों से सम्बन्धित है।

महाभारत एक अत्यन्त विशाल महाकाव्य है और इसमें अट्ठारह पर्व (खण्ड) हैं। इस ग्रन्थ का मुख्य अंश उस समय की सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों का वर्णन है जो हमें उस महान युद्ध की ओर ले जाती हैं। परन्तु भारतीय लेखन की प्रकृति के अनुरूप इस महाग्रन्थ में अनिवार्य रूप से मानव जीवन के अनेक आयामों को सम्मिलित किया गया है और यहाँ तक भी कहा गया है कि इसमें उस समय तक पृथ्वी पर जो कुछ भी घटित हुआ उसका वर्णन है।

यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि महाभारत के साथ-साथ वेदों, रामायण, आदि सहित अन्य प्रारम्भिक भारतीय लेखन को सामान्यत: प्रारम्भिक हिन्दू समाज के साहित्यिक या धार्मिक कार्यों के रूप में देखा गया है और इसलिये आधुनिक और समकालीन सामाजिक-राजनीतिक विषयों की पृष्ठभूमि को खोजने के लिए इन भव्य पुराने ग्रन्थों पर दृष्टिपात करने के गम्भीर प्रयासों को अधिकतर उपहास का सामना करना पड़ा है। तथापि इन प्रयासों द्वारा प्राचीन भारतीय समाज के आधारभूत विचारों के कुछ उल्लेखनीय कार्यों को शैक्षणिक जगत के समक्ष रखा जा सका है। इनमें से अधिकांश पश्चिमी लेखकों द्वारा किया गया शैक्षणिक प्रयोग है जिसका उद्देश्य प्रारम्भिक भारतीयों की सामाजिक-राजनीतिक जीवन शैली में झाँकना था और जो एक अन्तर्निहित विदेशी दृष्टिकोण पर आधारित था। इस दोष को मुख्य रूप से इस तथ्य से समझा जा सकता है कि वे सामान्य स्तर पर भारतीय समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक जटिलताओं से अनभिज्ञ थे। इन कार्यों में एक मुख्य त्रुटि यह थी कि इन्होंने वर्तमान धारणाओं से युक्त होकर तथा भारतीय समाज की प्रारम्भिक संस्थाओं के प्रारूप एवं आकार की अपनी अपरिपूर्ण समझ को साथ-साथ अवस्थित करने का प्रयास किया। अधिकांश भारतीय लेखन पर भी यही प्रभाव दृष्टिगत होता है। परन्तु यह बताना आवश्यक है कि इन तुलनाओं के मध्य का विशाल समय अन्तराल हमें बहुधा कथित मिथकों, स्थापित मान्यताओं और प्राचीन मूल्य-प्रतिमानों के विषय में आधुनिक युग के मानदण्डों तथा समाजों के कार्यात्मक आयामों की भ्रान्ति की ओर ले जाता है। औपनिवेशिक शासन की विरासत, औपनिवेशिक मानसिकता का निर्माण, आधुनिक लोकतान्त्रिक प्रणाली को सर्वश्रेष्ठ शासन प्रतिमान (मॉडल) के रूप में स्वीकार करना, राष्ट्रीय एकीकरण के एजेंडे के सामने बढ़ती चुनौतियाँ, बहु-धार्मिक और बहु-सांस्कृतिक धर्मनिरपेक्ष संवैधानिक प्रारूप की सामाजिक-राजनीतिक अनिवार्यता, तेजी से बढ़ती हुई पाश्चात्य जीवन-शैली, निरन्तर उपेक्षा और इसके परिणाम में भारतीय भाषाओं का पतन और अंग्रेजी आधारित शिक्षण की संक्रामक वृद्धि, आदि ही हमारी अनभिज्ञता और हमारे अत्यधिक समृद्ध और गौरवशाली सांस्कृतिक अतीत के प्रति उदासीनता के कुछ मुख्य कारण हैं।

वास्तविक राजनीति के हमारे तत्काल निराशाजनक समकालीन दबावों ने भी भारतीय बुद्धिजीवियों के एक बड़े वर्ग का निर्माण किया है जो कि अंग्रेजी बोलने और लिखने वाले पश्चिम के शैक्षिक आधिपत्य के प्रभाव के अन्तर्गत प्राचीन भारत से संयुक्त किसी भी विचार अथवा संस्था के प्रति बद्धमूल असहमति, उदासीनता, विद्वेष, आलोचना और अविश्वास की गहरी भावनाओं को संजोये हुए है। यह परिदृश्य उन लोगों के लिए पूरी तरह से सुखदायक और सुविधाजनक है जिनके लिए प्राचीन भारतीय लेखन को पढ़ना कठिन है क्योंकि वे मुख्य रूप से और बड़े स्तर पर संस्कृत में लिखे गये हैं। संस्कृत एक ऐसी भाषा है जिसके बारे में यह भ्रम फैलाया गया है कि उसका बहुत ही क्लिष्ट वैज्ञानिक व्याकरण है और अंग्रेजी की तुलना में इसमें कम लचीलापन है। इसके अतिरिक्त पण्डित जवाहरलाल नेहरू द्वारा भारतीय समाज के समग्र उत्थान की एक मात्र रीति के रूप मिश्रित अर्थव्यवस्था और तीव्र

औद्योगिकीकरण को स्वीकार किये जाने तथा 1990 में तत्कालीन प्रधानमन्त्री राजीव गाँधी द्वारा वैश्वीकरण-उदारीकरण, निजीकरण के प्रारूप को अतिशीघ्रता में अपनाने तथा कालान्तर में अन्य सरकारों के सहज अनुगमन एवं अनुसरण ने भारतीय शिक्षाविदों को भी अनिवार्य रूप से विश्वास दिलाया है कि उनके द्वारा प्राचीन अतीत को देखने का कोई भी प्रयास समकालीन विषयों के लिए विशुद्ध रूप से निरर्थक है। भारतीय शिक्षाविदों के इस व्यवहार के राजनीतिक पक्षों को यदि छोड़ भी दें तो भी इससे होने वाली सबसे बड़ी क्षति सामाजिक विज्ञानों के गम्भीर शोध में अच्छी प्रकार से द्रष्टव्य है। यद्यपि यह तर्क नहीं दिया जा सकता है कि प्राचीन भारतीय लेखन में सभी समकालीन समस्याओं के लिए सशक्त और सार्वकालिक समाधान उपलब्ध हैं, फिर भी यह कहा जा सकता है कि सामाजिक विज्ञान के दृष्टिकोण के साथ प्राचीन भारतीय कार्यों और साहित्य के गम्भीर अध्ययन से भारतीय मानसिकता की श्रेष्ठतर समझ को विकसित करने का मार्ग तो प्रशस्त होता और इसके परिणामस्वरूप हमारे सामाजिक-राजनीतिक मूल्यों और संस्थानों को स्वदेशी पद्धति से आकार देने में पर्याप्त सहायता मिलती।

इस पृष्ठभूमि में प्रस्तुत विवरण महाभारत के शान्तिपर्व में राजाओं के विशेष सन्दर्भ में सुशासन के कुछ पक्षों को खोजने, स्थापन करने, समझने और वर्णन करने का प्रयास आवश्यक है। महाभारत के शान्तिपर्व के चौबीसवें अध्याय में एक अत्यन्त ही रोचक कथा है। महायुद्ध के बाद युधिष्ठिर ने देखा कि वह ऐसे राज्य का राजा है, जो लाखों योद्धाओं, उनके सम्बन्धियों और उस समय के महान व्यक्तियों के मृत शरीरों पर बसा हुआ है और इस तरह सहस्रों विधवाओं और अनाथों को पीछे छोड़ गया है। युद्ध के रक्तपात के बाद युधिष्ठिर के मन में विच्छिन्नता की भावना उत्पन्न हो गयी। वह राजत्व को त्याग देने की इच्छा व्यक्त करते हुए तपस्या के लिए वन जाने लगते हैं। भीम, अर्जुन, द्रौपदी, आदि युधिष्ठिर को युद्ध के परिणामों के बारे में भूलने के लिए और लोगों के प्रति दायित्वों को पूरा करने के लिए एक कर्त्तव्यनिष्ठ राजा के रूप में कार्य करने के लिए प्रेरित करते हैं।[34] अन्त में, परिवार के आदिपुरुष व्यास दो भाइयों की कहानी सुनाते हैं, जो युधिष्ठिर को उपयुक्त कार्यात्मक भूमिका का सुझाव देने के साथ-साथ राज्य के विभिन्न अंगों के कार्यात्मक भेदभाव को आगे बढ़ाते हैं।

कथा दो भाइयों - शंख और लिखित के साथ प्रारम्भ होती है, जिनके दो पृथक्-पृथक् आश्रम हैं। दोनों भाई कठिन पूजा और तपस्या में लीन थे। एक बार लिखित अपने भाई शंख के आश्रम में गये और पके फलों से लदे कई पेड़ों को देखा। अपने भाई में आश्रम के स्वामित्व को ध्यान में रखते हुए लिखित ने फल खाना प्रारम्भ कर दिया। जब वह इन फलों का आनन्द ले रहे थे, तभी उनके भाई शंख आ गये और उनसे पूछा, "आपको ये फल कहाँ से मिले?" लिखित ने उत्तर दिया, "ये आपके आश्रम से हैं, मेरे भाई।" शंख ने कहा, "लेकिन आपने इन फलों को खाने की मेरी अनुमति नहीं माँगी है और इस प्रकार आपने चोरी की है।" लिखित ने पूछा, "मुझे क्या करना चाहिए?" शंख ने सुझाव दिया,

"आप चोरी के अपराधी हैं। चोरों को दण्ड देने का कर्त्तव्य और अधिकार राजा का होता है। आपको राजा के पास जाना चाहिए, राजा को सत्य बात कहनी चाहिए और राजा से आपका दण्ड निर्धारित करने के लिए आग्रह करना चाहिए।" लिखित ने अपने भाई की बात मानी और राजा सुद्युम्न के पास गये और पूरी कथा बताई। प्राथमिक रूप में, राजा का मानना था कि जब लिखित ने पहले ही इस चोरी के अपराध के बारे में स्वीकार कर लिया है, तो उसे एक धर्मगुरु होने के नाते, आगे किसी भी प्रकार के दण्ड की आवश्यकता नहीं थी। पश्चात्ताप दण्ड से अधिक प्रबल है। लेकिन लिखित राजा को उनकी भूमिका के निर्वहन के लिए बल देते हैं, और अन्ततः लिखित के हाथ काटने का आदेश दिया जाता है। राजा के हाथों दण्डित होने के उपरान्त, लिखित अपने भाई के पास लौटते हैं और उनसे अपने कर्मों को क्षमा करने का अनुरोध करते हैं। शंख कहते हैं कि उनके मन में उनके विरुद्ध कुछ भी नहीं था। लिखित ने धर्म के नियमों का उल्लंघन किया था और केवल राजा ही उनके द्वारा किये गये अपराध के लिए दण्ड निर्धारित कर सकता था। अब जब आपको दण्ड मिला है, तो मैं अपनी आध्यात्मिक शक्तियों के माध्यम से आपको नये हाथ प्रदान करता हूँ। कथा की नैतिकता यह है कि समाज में हर व्यक्ति को निर्दिष्ट भूमिकाएँ निभानी पड़ती हैं, जिसे उसका धर्म कहा जाता है, और नियमों का कोई भी उल्लंघन समाज के मानदण्डों के विरुद्ध है और इसलिये उस उद्देश्य के लिए नामित प्राधिकारी से दण्ड की आवश्यकता होती है।

एष धर्मः क्षत्रियाणां प्रजानां परिपालनम्।
उत्पथोऽन्यो महाराज मा स्म शोके मनः कृथा।।[35]

महाभारत का शान्तिपर्व प्राचीन भारत के राजनीतिक विचारों के विषय में अनेक सिद्धान्त तथा अवधारणाएँ करता हैं। निर्विवाद रूप से प्राचीन भारतीय राजनीति पर यह सबसे अच्छा ग्रन्थ है। कुछ लेखकों का मानना है कि प्राचीन भारत में राजा में सम्प्रभुता सन्निहित थी। इस प्रकार, राजकीय सम्प्रभुता राज्य के अधिकार का वास्तविक प्रतीक थी।[36] व्यास के अनुसार, राजा को योद्धाओं, कुलीनों और बुद्धिजीवियों की रक्षा करनी चाहिए।

शूराश्चार्याश्च सत्कार्या विद्वांसश्चयुधिष्ठिर।
गोमिनो धनिनश्चौव परिपाल्या विशेषतः।।[37]

उन्हें राज्य के कार्यों में आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीति में उत्कृष्ट लोगों को सम्मिलित करना चाहिए।

तर्कशास्त्रकृता बुद्धिर्धर्मशास्त्रकृता च या।
दण्डनीतिकृता चैव त्रैलोक्यमपि साधयेत्।।
आन्वीक्षिकीत्रयीवार्ता दण्डनीतियु पारगाः।
ते तु सर्वत्र योक्तव्यास्ते च बुद्धे परं गताः।।[38]

महाभारत के अनुसार राज्य की गतिविधि का क्षेत्र मानव जीवन के प्रायः समस्त क्षेत्रों तक विस्तारित है। इस प्रकार प्राचीन भारत में राज्य समाज का मुख्य केन्द्र और लोगों के कल्याण का प्राथमिक साधन था। इस पृष्ठभूमि में राज्य की कार्यप्रणाली के विभिन्न आयामों

के गम्भीर, व्यवस्थित एवं उपयुक्त अध्ययन को आवश्यक माना गया है। राजा राज्य का पहला और सबसे महत्वपूर्ण अंश है। राज्य की अधिकांश भलाई राजा पर निर्भर करती है। इसलिये प्राचीन भारतीय राजनीति के सभी लेखकों ने राजा को प्रमुख महत्व दिया था।

बाशम कहते हैं कि "हालांकि भारत का कोई औपचारिक राजनीतिक दर्शन नहीं था, लेकिन शासन कला को विकसित किया गया और इस विषय पर कई महत्वपूर्ण पाठ्य पुस्तकें अस्तित्व में हैं। दण्डनीति, बल का प्रयोग या राजनीति, राजाओं का आचरण, एक गम्भीर व्यावहारिक विज्ञान था, और ग्रन्थों ने सामान्य रूप से राजनीति के दार्शनिक पक्ष को अस्वीकार कर दिया, परन्तु राज्य के संगठन और राजकीय विषयों के संचालन पर तुलनात्मक रूप से विस्तृत सम्मति दी।"[39] उपर्युक्त विवरण हमें प्राचीन भारतीय ग्रन्थों के राजनीतिक चिन्तन के विविध आयामों के महत्त्वपूर्ण संकेत प्रदान करते हैं। यह भावी शोध परिप्रेक्ष्य को भी अकादमिक दिशा प्रदान करने में सम्यक् रूप से सक्षम हैं।

सन्दर्भ

1. कौटिल्य प्रणीतसूत्र।
2. जायसवाल, के.पी. (2005) *हिन्दू पॉलिटी: ए कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इंडिया इन हिन्दू टाइम्स,* चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पृष्ठ 4-5.
3. जायसवाल, के.पी. (2005) *हिन्दू पॉलिटी: ए कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इंडिया इन हिन्दू टाइम्स,* चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पृष्ठ 5-6.
4. उपाध्याय, गीता (1979) *पॉलिटिकल थॉट इन संस्कृत काव्य,* चौखम्बा ओरियंटालिया, वाराणसी, पृष्ठ 6.
5. महाभारत, शान्तिपर्व, 15.10
6. अथर्ववेद - 12 (1) 45
7. कौटिल्य 1/4/19
8. ऋग्वेद 6-54-1
9. अथर्ववेद - 13-1-35
10. ऋग्वेद 1-73-1
11. गौतम धर्मसूत्र II.4.26, बौधायनसूत्र 1.1.1.6
12. अथर्ववेद 11-5-17
13. अथर्ववेद 3.3.5
14. अथर्ववेद 3.4.2
15. यजुर्वेद 20.9
16. अथर्ववेद - 3.4.3

17. अथर्ववेद 19.55-6

18. ऋग्वेद 10/173/1

19. अथर्ववेद 07/12/01

20. बौधायन धर्मसूत्र 10.18.7

21. अथर्ववेद -15.9.2

22. पारस्कर गृह्यसूत्र 3/13/1

23. गौतम धर्मसूत्र II.1.26

24. नारदस्मृति 3/17

25. मनुस्मृति 7/44, महाभारत, शान्तिपर्व 69.04, शुक्रनीतिसार 1/99

26. अत्रिस्मृति

27. यजुर्वेद 22.22

28. सूरी, सोमदेव, *नीतिवाक्यामृतम्*, पृ. 7

29. महाभारत, शान्तिपर्व, LIX, 102, चण्डेश्वर, XVI

30. जायसवाल, के.पी. (2005) *हिन्दू पॉलिटी: ए कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इंडिया इन हिन्दू टाइम्स*, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पृष्ठ 220.

31. उपाध्याय, गीता (1979) *पॉलिटिकल थॉट इन संस्कृत काव्य*, चौखम्बा ओरियंटालिया, वाराणसी, पृष्ठ 5-6.

32. जायसवाल, के.पी. (2005) *हिन्दू पॉलिटी: ए कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इंडिया इन हिन्दू टाइम्स*, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पृष्ठ 219.

33. जायसवाल, के.पी. (2005) *हिन्दू पॉलिटी: ए कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इंडिया इन हिन्दू टाइम्स*, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, पृष्ठ 219.

34. महाभारत, शान्तिपर्व.

35. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय 23, श्लोक-46.

36. सिन्हा, एच.एन. (1938) *सोवेरिनिटी इन एनशिएण्ट इंडियन पॉलिटी*, लुजैक एण्ड कं., लन्दन, पृष्ठ 18-19, घोषाल, यू.एन. (1923) *ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दू पॉजिटिकल थ्योरीज़*, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, पृष्ठ 84.

37. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय 24, श्लोक-17.

38. तर्कशास्त्रकृता बुद्धिर्धर्मशास्त्रकृता च या। दण्डनीतिकृता चैव त्रैलोक्यमपि साधयेत्।।
आन्वीक्षिकीत्रयीवार्ता दण्डनीतियु पारगा:। ते तु सर्वत्र योक्तव्यास्ते च बुद्धे परं गता:।।
(महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय 24, श्लोक-18)

39. बाशम ए.एल. (1967) *द वण्डर दैट वाज़ इंडिया*, रूपा एण्ड कं., नई दिल्ली, पृष्ठ 80.

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 18, संयुक्तांक, जनवरी-दिसम्बर 2020, पृ. 22-39)

हन्ना आरेंट : क्रान्ति दर्शन की समीक्षा

विश्वनाथ मिश्र*

प्रत्येक सभ्यता ने अपने जीवन काल में कभी न कभी क्रान्ति का समर्थन और कभी न कभी क्रान्ति का विरोध अवश्य किया है। परम्परावादी पुनर्स्थापना (रेस्टोरेशन) के अर्थ में और प्रगतिवादी विकास के अर्थ में या आमूलचूल परिवर्तन के अर्थ में क्रान्ति शब्द का प्रयोग करते हैं। अब्राह्मिक एवं ब्राह्मिक दोनों ही परम्पराओं में क्रान्ति विमर्श पर पर्याप्त साहित्य उपलब्ध है जो अलग-अलग विश्वदृष्टि से क्रान्ति की समीक्षा और उसके औचित्य पर प्रकाश डालता है। हन्ना आरेंट ने अपनी पुस्तक 'ऑन रिवोल्यूशन' में विभिन्न क्रान्ति दर्शनों की समीक्षा करते हुए अमेरिकी क्रान्ति में ग्रीक गौरव की अभिव्यक्ति को देखा है और फ्रांस की क्रान्ति को रोमन वस्त्रों में सम्पन्न हुआ बताया है। उनकी मान्यता है कि लेनिन के समय से ही बोल्शेविक क्रान्ति में फ्रांस की क्रान्ति की ही तरह वर्गहित सुरक्षित होने लगे थे। हमारे अपने समय में भी अनेक क्रान्तियाँ घटित हो रही हैं परन्तु, हिंसा, अन्याय और शोषण की एक नयी शृंखला भी हर क्रान्ति के साथ जुड़ती चली जा रही है। ऐसे में क्रान्ति दर्शनों की समीक्षा समीचीन हो जाती है। प्रस्तुत लेख एक ऐसा ही उद्यम है।

सामान्यत: युद्ध और क्रान्ति दोनों में हिंसा की अभिव्यक्ति होती है, तथापि रक्तहीन क्रान्ति तो सम्भव है परन्तु रक्तहीन युद्ध की कल्पना नहीं की जा सकती है। यदि हम युद्ध के सन्दर्भ में मार्क्स और माओ के विचारों के साथ क्रान्ति को समझने का प्रयास करें तो क्रान्ति

*एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीतिशास्त्र विभाग, आर्य महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय), वाराणसी (उ.प्र.). **E-mail: vishwanathmishrabhuvaranasi@gmail.com**

एक सतत प्रक्रिया बन जाती है। माओ जब कहते हैं कि राजनीति रक्त रहित युद्ध है और युद्ध रक्तयुक्त राजनीति है (माओ, 1965), तब क्रान्ति, युद्ध और राजनीति का अर्थ वह नहीं रह जाता है जिसे हम सामान्य समझ के तहत स्वीकार करते हैं। ऐसा ही तब भी होता है जब हम मार्क्स के इस कथन पर विचार करते हैं कि आज तक का अस्तित्वमान समाज का इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास है (मार्क्स एवं एंगेल्स, 2013)। युद्ध और क्रान्ति दोनों ही इतिहास की गति को प्रभावित करते हैं। दोनों ही इतिहास की गति को तीव्र करने या अवरुद्ध करने में अहम् भूमिका का निर्वाह करते हैं। मानव जाति के इतिहास में युद्ध के औचित्य पर बहुत पहले से ही विचार आरम्भ हो गया था (आरेंट, 1990: 12)। ग्रीक परम्परा में प्लेटो से पूर्व और सनातन परम्परा में मनुस्मृति से पूर्व ही युद्ध मीमांसा के अनेक विमर्श मिलते हैं। परन्तु, जिस तरह से प्राचीन ग्रन्थों में युद्ध को समझने के लिए सिद्धान्तों को विकसित किया गया है, ठीक उसी तरह से क्रान्ति को समझने के सिद्धान्त विकसित नहीं हुए हैं। इस दृष्टि से अरस्तु की रचना 'पॉलिटिक्स' एक अपवाद अवश्य है।

इतना ही नहीं अरस्तु ने क्रान्ति शब्द का प्रयोग जितने ढीले-ढाले अर्थों में किया था आज भी हम उन्हीं अर्थों में क्रान्ति शब्द का इस्तेमाल करते हैं।[1] यद्यपि, क्रान्ति और युद्ध दोनों में हिंसा की अभिव्यक्ति होती है परन्तु, दुनिया में कुछ गिनी-चुनी ऐसी भी क्रान्तियाँ हुई हैं जिनमें हिंसा नहीं हुई या बहुत कम हुई है। राजनीति दर्शन के विद्यार्थियों के लिए ऐसी रक्तहीन क्रान्तियों में 'ग्लोरियस रिवोल्यूशन' का नाम सर्वविदित है। तथापि अभी भी रक्तहीन क्रान्ति और अहिंसक क्रान्ति के मध्य भेद करते हुए इतिहास के पन्नों से बहुत कुछ खंगालना शेष रह गया है। इस सन्दर्भ में दुनिया के सबसे पहले अहिंसक क्रान्ति के रूप में बौद्ध आन्दोलन एवं बौद्धमत की स्थापना का उल्लेख करना भी समीचीन है। वस्तुत: युद्ध भी राजनीति का अन्त है और क्रान्ति भी राजनीति का अन्त है। परन्तु, समस्या यह है कि दोनों ही सामूहिक घटनाएँ हैं और दोनों ही सामूहिक विवेक का तर्क अपने पक्ष में उपस्थित करती हैं। इस कारण क्रान्ति और युद्ध मीमांसा निरपेक्ष भाव से कर पाना कठिन होता है। इस कठिनाई को हम सामान्य जनता के इस मनोविज्ञान से भी समझ सकते हैं कि क्रान्तिकारियों की प्रशंसा प्राय: सब करते हैं परन्तु, शायद ही कोई यह चाहता है कि उसके घर में क्रान्तिकारी का जन्म हो।

धार्मिक परम्पराएँ : पर्यवेक्षणीय तथ्यता और क्रान्ति

क्रान्ति को समझने का एक विमर्श अब्राह्मिक परम्परा (यहूदी, ईसाई एवं इस्लाम) से आता है और दूसरा उत्तर ब्राह्मिक परम्परा (हिन्दू, जैन, बौद्ध एवं सिख) से प्रकट होता है। इस प्रश्न का एक तीसरा उत्तर भी है जो विज्ञानवादी पर्यवेक्षण ज्ञान परम्परा से अपने पक्ष को रखता है। अब्राह्मिक परम्परा के अनुसार पृथ्वी पर मनुष्य की दशा मूल पाप से बाधित है, इसी कारण वह धरती पर क्लेश, हिंसा और भय के बीच जीने के लिए अभिशप्त है। विश्वास की इस परम्परा में मुक्तिकाम्यता और राज्य की जनता के बीच विरोध सम्बन्ध बन जाता है और यह सम्बन्ध क्रान्ति की ओर जाने वाले सभी मार्ग को बन्द कर देता है। इस पृष्ठभूमि से राजनीति

दर्शन की जिस सैद्धान्तिकी का निर्माण होता है उसकी अभिव्यक्ति यह है कि - क्रान्ति की नैसर्गिक अभीप्सा के बजाय हिंसा को सह लेने की प्रवृत्ति जनसमूह में अधिक होती है। इस सिद्धान्त की व्यवहारिकता को समझने के लिए पूरी दुनिया के असफल विद्रोह की पुनर्मीमांसा की जा सकती है। परन्तु, यहाँ फ्रांसीसी विचारक रूसो के जीवन की एक घटना का उल्लेख वस्तुस्थिति को सबसे अधिक स्पष्ट रूप से प्रस्तुत कर सकता है। रूसो की चर्चा यहाँ इसलिये भी प्रासंगिक है कि इस माध्यम से राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक संविदा सिद्धान्त पर भी प्रकाश डाला जा सकता है। इसकी चर्चा इसलिये भी जरूरी है कि संविदा सिद्धान्त मूल पाप के बन्धन से मनुष्य को बाहर निकालने का भी उपक्रम है। इसी उपक्रम के कारण रूसो के ग्रन्थ 'एमिली' के प्रकाशन के बाद 9 जून 1762 में फ्रांस के हाई कोर्ट ने इस ग्रन्थ को सार्वजनिक रूप से जलाने का निर्देश दिया और 8 अगस्त 1762 को लेखक को गिरफ्तार कर लेने की आज्ञा जारी की (अलबर्ग, 2001: 57)। रूसो पर यह अभियोग था कि वह ईसाई सम्प्रदाय के 'मूल पाप' की अवधारणा को नकारने का दोषी है (अलबर्ग, 2001: 58)। इस विवरण से स्पष्ट है कि अब्राह्मिक परम्परा के 'मूल पाप' की अवधारणा राज्य के विरुद्ध क्रान्ति को एक नैसर्गिक जन-अभीप्सा बनने के मार्ग में बाधक है और यह राज्य प्रायोजित हिंसा को मौन स्वीकृति प्रदान करती है।

सामाजिक संविदा और मूलपाप की दूसरी व्याख्या जॉन रॉल्स और कीर्केगार्ड के सम्मिलित अध्ययन से प्रकट होती है और यह सहमति से हिंसा और क्रान्ति की समस्याओं के समाधान की ओर आगे बढ़ता है। इस तर्क की मूल मान्यता है कि 'एडम' का मूल पाप आकस्मिक (एक्सीडेंटल) था। इसी कारण मानवीय विवेक से धरती पर पाप के विस्तार और दण्ड की कठोरता को सीमित किया जा सकता है (जेओफ्री, 2006)। इस तर्क का विस्तार यदि हॉब्स, रूसो और पूरे संविदावादी उपक्रम तक किया जाये तो यह भी क्रान्ति की नैसर्गिक अभीप्सा को मान्यता नहीं देता है बल्कि राज्य की हिंसा को सहमति से कम करने का सुझाव रखता है। इस दृष्टि से राज्य के सन्दर्भ में 'ओरिजिनल पोजीशन' की सैद्धान्तिकी मूल पाप को भूलकर धरती पर न्याय के राज को स्थापित करने का एक प्रयास बन जाता है।

अब यहाँ ब्राह्मिक परम्परा में क्रान्ति के सन्दर्भ को समझ लेना आवश्यक है। ब्राह्मिक परम्परा में मूल पाप की अवधारणा नहीं है। परन्तु, ब्राह्मिक परम्परा में भी राज्य प्रायोजित हिंसा की अनेक धाराएँ देखी जा सकती हैं। इस परम्परा में भी क्रान्ति विमर्श का अभाव है। महाभारत के शान्तिपर्व में और मनुस्मृति के सातवें अध्याय में राजा वेन की हत्या राज्य प्रायोजित हिंसा के विरुद्ध जनविद्रोह या क्रान्ति की घटना का उल्लेख अवश्य मिलता है (मिश्र, 2007: 173) परन्तु, यह सामान्य नियम न होकर अपवाद ही है। इसी तरह शुक्रनीतिसार में राज्याभिषिक्त राजा के साथ-साथ अनभिषिक्त राजा का भी उल्लेख मिलता है (मिश्र, 2007: 173), इससे भी क्रान्ति की सम्भावना का संकेत मिलता है। कृष्ण के द्वारा कंस का विध्वंस और इसमें कृष्ण को मिलने वाला जनसमर्थन एक तरह से कृष्ण को क्रान्ति का नायक बनाता है। रावण की हिंसा से त्रस्त होकर जनसमूह को एकत्रित करके रावण का वध भी राम को क्रान्ति का एक

जननायक बनाता है। परन्तु, पौराणिक ग्रन्थों में इन घटनाओं का उल्लेख धर्मयुद्ध की तरह हुआ है न कि क्रान्ति के रूप में। ऐसा क्यों हुआ है इसका जो उत्तर है वह सनातन परम्परा में राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त और सामाजिक संविदा सिद्धान्त के एकीकरण में उपलब्ध है। यह एकीकरण मनुस्मृति, अर्थशास्त्र, शान्तिपर्व, शुक्रनीतिसार एवं कामन्दकनीतिसार आदि में एक मान्य सिद्धान्त के रूप में व्यक्त हुआ है। अब्राह्मिक परम्परा में राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त से सामाजिक संविदा सिद्धान्त की ओर संक्रमण सेक्यूलराइजेशन की अभिव्यक्ति है। यद्यपि भारत में भी संविदा सिद्धान्त में मनुष्य के निष्पाप अवस्था से पतन का चित्रण हुआ है। तथापि, इसके निवारण के लिए दण्ड के बजाय धर्म को ही प्रमुखता दी गयी है। इसका कारण यह है कि सनातन परम्परा में मनुष्य का धरती पर आगमन किसी मूल पाप का परिणाम नहीं है बल्कि ईश्वर की इच्छा का परिणाम है। साथ ही राजा भी जन-सहमति के आधार पर ईश्वर से सत्ता का प्राधिकार प्राप्त करता है। अब यदि राजा ही आततायी हो तो उसे पद से हटाया जा सकता है परन्तु, इसके लिए धर्म के मूर्तिमान नेतृत्व का आह्वान सनातन परम्परा में अवतारों के रूप में बार-बार किया गया है। परन्तु, ईश्वर का अवतरण मनुष्य का अधिकार नहीं है बल्कि ईश्वर की इच्छा का परिणाम है। इस स्थिति में यह कहना अधिक उचित है कि दुनिया के किसी भी धर्म में क्रान्ति को रोकने के सन्देश ही अधिक हैं और यही बात ब्राह्मिक परम्परा के साथ भी लागू होती है।

विज्ञानवादी पर्यवेक्षणीयता की तथ्यात्मकता और क्रान्ति

अब्राह्मिक, इब्राह्मिक एवं ब्राह्मिक परम्परा में क्रान्ति की समीक्षा करने के बाद अब इस प्रश्न पर विज्ञानवादी पर्यवेक्षणीय ज्ञानमीमांसा से विचार कर लेना अभीष्ट है। यद्यपि यह मत भी अपने मूल अब्राह्मिक चरित्र से पूरी तरह से मुक्त नहीं है क्योंकि इसमें भी क्रान्ति को पीछे धकेलने की हर कोशिश हुई है। फिर भी यह विचार इस लिहाज से सामी (सेमेंटिक) परम्परा से अलग अभिमत रखता है कि पृथ्वी मनुष्य के लिए जेल है और राज्य जेल अधीक्षक है। जिस तरह जेल अधीक्षक पर हमला कानून का उल्लंघन है और इससे दण्ड में वृद्धि ही होती है, उसी प्रकार राज्य का विरोध भी दण्डकारी है। जेल अधीक्षक जिस तरह दण्ड देकर पाप को प्रतिशोधन का अवसर देता है उसी प्रकार राज्य हिंसा के द्वारा व्यक्ति को निष्पाप बनाता है क्योंकि, राज्य ने यह अधिकार चर्च से प्राप्त किया है। किन्तु, इसके विपरीत विज्ञानवादी पर्यवेक्षणीय ज्ञानमीमांसा का विश्वास है कि राज्य अपना प्राधिकार जनता से प्राप्त करता है, इसी कारण वह अनुलंघनीय हो सकता है। अनुलंघन के इस जन-प्राधिकार पर किसी युक्तियुक्त सीमा का आरोपण भी आवश्यक है। यदि ऐसा न हो तो स्वतन्त्रता की चाह सुरक्षा को और बदलाव की चाह स्थायित्व को इस कदर दबोच लेगी कि मानव जीवन ही खतरे में पड़ जायेगा। आधुनिक राजनीति दर्शन में हॉब्स ने क्रान्ति के प्राधिकार से जनता को ठीक उसी तरह से वंचित कर दिया जिस तरह से राजा के दैवी अधिकारों का समर्थन करते हुए क्रान्ति से जनता को दूर रखा जा सकता था। बेन्थम ने क्रान्ति पर उपयोगितावादी दृष्टि से

विचार करते हुए राज्य का विरोध करने का एक उपयोगितावादी रास्ता अवश्य खोज निकाला। इसके लिए बेन्थम का सुझाव यह है कि यदि राज्य के विरोध से होने वाले लाभ की मात्रा राज्य का समर्थन करने से होने वाले नुकसान की अपेक्षा अधिक हो तो सामूहिक रूप से अन्तिम विकल्प के रूप में राज्य के विरोध का मार्ग अपनाया जा सकता है (झा, 2004)। वस्तुत: बेन्थम प्राकृतिक अधिकारों की अवधारणा पर जन्मी फ्रांसिसी क्रान्ति के समर्थक नहीं हैं। परन्तु, फ्रांस की क्रान्ति में बहुसंख्यक जनता की भागीदारी को देखते हुए अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख का तर्कवाक्य बेन्थम को एक बीच का रास्ता चुनने हेतु बाध्य करता है। फलत: बेन्थम प्राकृतिक अधिकारों की अवधारणा का विरोध करने पर भी अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख के गणित का सहारा लेते हुए समूह को नफा-नुकसान के आधार पर राज्य के विरोध का अधिकार दे देते हैं (बर्न्स, 1966)।

हॉब्स ने विज्ञानवादी पर्यवेक्षणीय ज्ञानमीमांसा के तर्क से जहाँ क्रान्ति के अधिकार से जनता को दूर रखा, वहीं कार्ल मार्क्स ने इसी ज्ञानमीमांसा के तर्क से क्रान्ति को ही मनुष्य की मुक्ति का अन्तिम हथियार बना दिया। मार्क्स के चिन्तनधारा की मान्यता है कि दास युग से लेकर पूंजीवाद तक शासन में जन सहभागिता नहीं रही है। जन आकांक्षाओं के अनुरूप शासन संचालित करने हेतु संविधानवाद का विचार भी वस्तुत: वर्गीय हितों के संरक्षण का माध्यम रहा है। इस कारण जन क्रान्ति के औचित्य को लेकर विमर्श की सम्भावना हर युग में रही है परन्तु, उन विमर्शों को सत्ता समीकरण के कारण कभी वैधता प्राप्त नहीं हुई। पूंजीवादी अवस्था में आकर जब उत्पादन व्यवस्था और उत्पादन सम्बन्ध के सारे अन्तर्विरोध सबसे अधिक मुखर रूप से सामने आ जायेंगे तब क्रान्ति के द्वारा ही मनुष्य अपनी मुक्ति का भाग्य लिखेगा। पूंजीवादी अवस्था में आकर ही मजदूर अपनी वर्ग चेतना को पहचान पायेंगे और यह चेतना समाज में क्रान्तिकारी बदलाव को जन्म देगी।

क्रान्ति के लिए सामूहिक चेतना की आवश्यकता की बात करके मार्क्स अपने ही द्वारा खारिज किये गये हीगल को फिर से स्वीकार कर लेते हैं। ऐसा कहना इसलिये युक्तियुक्त है कि यहाँ आकर इतिहास की गति या ऐतिहासिक भौतिकवाद से परे जाकर सामूहिक चेतना की उत्पति के स्रोत खोजने की गुंजाइश बन जाती है। उत्पादन की भौतिक दशाओं के अन्तर्विरोधों को समझने की वैचारिकी से ही चेतना के अन्तर्विरोधों को समझने की किसी भी योजना में यह त्रुटि सम्भव है। मात्र वैज्ञानिक पद्धति के तकाजे के कारण ही उत्पादन की भौतिक दशाओं के अन्तर्विरोधों और चेतना के अन्तर्विरोधों को एक ही पद्धति से समझने की कोशिश सही नहीं कही जा सकती है। हालाकि, स्वयं मार्क्स ने इस तकाजे से मुँह मोड़े रखा और ऐसा ही लेनिन, माओ आदि ने भी किया। यहाँ यह सवाल किया जा सकता है कि चेतना के अन्तर्विरोधों को समझने का तात्पर्य क्या है? इसका एक तात्पर्य यह है कि क्रान्ति के उद्देश्य से विभिन्न समूह भीड़ की मनोदशा में जुड़े हैं या वे क्रान्ति के उद्देश्य से चेतन रूप से जुड़े हैं, इसका पता लगाना। इसका दूसरा तात्पर्य यह है कि क्रान्ति के नायक स्वयं अपनी चेतना का लोकहित के लिए कितना परिष्कार कर पाए हैं, इसका पता लगाना। इसका एक

तीसरा तात्पर्य भी है और वह यह है कि क्रान्ति जिस हिंसा के विरोध में घटित होने वाली है वह सफल होकर भविष्य में पूर्व क्रान्ति की अपेक्षा कितनी और किस प्रकार की हिंसा को जन्म देगी।

सामान्यत: जिस तरह चुनावों के समय लहर में बह कर मतदान करने का एक रुझान पाया जाता है, उसी तरह क्रान्तियों में भी सहभागिता होती है। जिसका परिणाम यह होता है कि न तो चुनाव परिणामों के बाद लोगों के जीवन में अपेक्षित बदलाव आते हैं न ही यह अपेक्षा क्रान्तियों के बाद पूरी हो पाती है। कभी विचारकों के वैचारिक आग्रह भी क्रान्तियों के प्रति सही निर्णय लेने से रोकते हैं। मार्क्स की ही तरह हीगल के सन्दर्भ में भी यह बात लागू होती है। हीगल स्वतन्त्रता की चेतना के प्रति आग्रही विचारक हैं। स्वतन्त्रता की जनचेतना का उभार वे फ्रांसिसी क्रान्ति में देखते भी हैं परन्तु, जर्मनी के लिए वे वैसी ही स्वतन्त्रता के जन उभार से उत्पन्न होने वाली स्थितियों में जर्मनी का कल्याण नहीं देखते हैं। हीगल को रोबेस्पियर का यह विचार बहुत आकर्षित करता है कि हथियारों की ताकत के बजाय हमारे सिद्धान्त हमारी महान क्रान्ति का प्रचार करेंगे। क्रान्ति के सिद्धान्तों के आलोक में हम विभिन्न अविवेकपूर्ण सामाजिक स्थितियों को मानव जाति की प्रगति के द्वारा दूर कर सकेंगे (मार्क्यूज, 1941: 7)। परन्तु, हीगल सचेत रूप से कहते हैं कि विवेक तब तक यथार्थ को अधिशासित नहीं कर सकता है जब तक कि यथार्थ भी स्वयं विवेकपूर्ण न हो जाये। यह विवेकपूर्णता तभी प्रकट होती है जब विषय (व्यक्ति, समाज आदि) इसके लिए इतिहास से होकर गुजरता है (मार्क्यूज, 1941: 8)। हीगल जब पूर्ण विवेक की प्राप्ति के लिए इतिहास से होकर गुजरने की बात करते हैं तब इसका एक विशेष अर्थ-सन्दर्भ होता है। इस सन्दर्भ को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि हीगल ने एक ओर यह माना है कि विवेक की अभिव्यक्ति ही स्वतन्त्रता है और दूसरी ओर यह भी कहा है कि स्वतन्त्रता ही विषय का वास्तविक अस्तित्व है। विवेक जो कि एक वस्तुनिष्ठ शक्ति है वह अपने प्रकटीकरण (रियलाइजेशन) के माध्यम से अस्तित्व में आता है। इस तरह हर विषय की विवेकपूर्ण अभिव्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्रता में होती है। प्रकृति और इतिहास भी उसी विवेकपूर्ण स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति के माध्यम भर हैं (मार्क्यूज, 1941: 10)। मार्क्यूज इस सम्बन्ध में हीगल की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि मनुष्य के जीवन में विवेक का प्रवेश उसके सतत संघर्ष में उसे सत्य के अनुरूप परिमार्जित करने में होता है।

मार्क्यूज ने एक विशेष तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। वे लिखते हैं कि हीगल के चिन्तन में इतिहास का जगत् संघर्षों की कोई शृंखला नहीं है बल्कि यह मानवता का सतत परिष्कार है (मार्क्यूज, 1941: 10)। परन्तु, वही मार्क्यूज हीगल के दर्शन को नकारात्मक दर्शन भी कहते हैं (मार्क्यूज, 1941: vii)। इसका कारण यह है कि हीगल अपने तर्क की वस्तुनिष्ठता को गतिमान सामाजिक स्थितियों से मुक्त नहीं रख सके। हीगल की प्रारम्भिक रचनाओं में यह दोष नहीं है। इस तथ्य का उल्लेख करने के लिए मार्क्यूज ने शेलिंग को 1793 में लिखे एक पत्र का उल्लेख किया है और यह बताया है। यहाँ हीगल के चिन्तन में

विवेक और स्वतन्त्रता के दार्शनिक और सामाजिक अर्थ एक ही हैं (मार्क्यूज, 1941: 11-12)। परन्तु, हीगल की रचनाओं में फ्रांसिसी क्रान्ति के प्रति निराशा के जो भाव उत्पन्न हुए उसमें जर्मनी की इस स्थिति का भी बड़ा योगदान था कि जर्मनी में फ्रांस की तरह सामन्तवाद से डटकर मुकाबला करने वाला कोई शक्तिशाली शिक्षित मध्य वर्ग नहीं था (मार्क्यूज, 1941: 13)। यह एक ऐसी बाध्यता थी जिसने हीगल को व्यक्ति की स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए राज्य की ओर अग्रसर कर दिया और अन्ततः उसमें स्वतन्त्रता कहीं गुम हो गयी। यद्यपि स्वयं हीगल के चिन्तन में स्वतन्त्रता के मूल चेतना की चिंगारी बची रही क्योंकि हीगल के लिए राज्य को भी पूर्ण विवेक का मूर्तिमान रूप ही होना था। परन्तु, बाद के समय में नाजीवादियों और फासीवादियों ने मूर्तिमान विवेक के रूप में हीगल ने राज्य को जो शक्ति और गरिमा प्रदान की थी उसे अपने स्टेट सोशलिज्म के लिए अपनाने का प्रयास किया। नाजीवादियों और फासीवादियों ने स्टेट सोशलिज्म के लिए एक ओर हीगल के राज्य की सर्वसत्तावादी अवधारणा को अपनाया और दूसरी ओर हीगल ने व्यक्ति के लिए जिस स्वतन्त्रता की आधारशिला रखी थी उसकी पूरी तरह से अवहेलना की (मार्क्यूज, 1941: 389-390)।

क्रान्ति की चेतना और चेतना की क्रान्ति

अब यहाँ हीगल के चिन्तन में जो जातीय या राष्ट्रीय तकाजे के कारण अन्तर्विरोध उत्पन्न हुए हैं उससे इतर हीगल के चिन्तन पर विचार करते हुए चेतना के जागरण के अर्थ को समझ लेना आवश्यक है। यह प्रतिभासित होता है कि हीगल के चिन्तन में मानवीय चेतना की जागृति वैश्विक चेतना के रूप में स्व-चेतना के विस्तार से ही होना है। संघर्षों के माध्यम से इस प्रक्रिया की अभिव्यक्ति का तात्पर्य स्व-चेतना (व्यक्तिगत चेतना) की संकुचितता का वैश्विक चेतना के आघात के द्वारा टूटन है, जिसमें स्व को वैश्विक चेतना से दूर रखने वाले बाधक तत्व टूटते हैं और वैश्विक चेतना स्व में प्रतिष्ठित होती है। हीगल द्वन्द्ववाद का प्लेटो की तरह ही संवाद से सत्य को जानने की प्रक्रिया के द्वारा भी उक्त सत्य को स्थापित कर सकते थे और इसके लिए विश्व इतिहास की द्वन्द्ववादी व्याख्या करने की कोई जरूरत नहीं थी। परन्तु, इसके द्वारा जर्मनी के राष्ट्र-राज्य के उत्कर्ष के रूप में सत्य का सन्धान करना सम्भव नहीं था। वस्तुतः स्वचेतना का वैश्विक चेतना के साथ समायोजन ही सबसे बड़ी क्रान्ति है। सनातन परम्परा की भाषा में कहें तो आत्मपरिष्कार के लिए अहम् का विसर्जन ही सबसे बड़ी क्रान्ति है। अहम् के विसर्जन के बिना कोई क्रान्ति सम्भव नहीं है। क्रान्ति जो कि हिंसा और अन्याय के विरुद्ध शंखनाद है यह स्वयं भी किसी अहम् के विरुद्ध प्रतिक्रिया ही है। परन्तु, दुनिया की अधिकांश क्रान्तियों में एक सामूहिक अहम् के विरुद्ध दूसरे सामूहिक अहम् की अभिव्यक्ति हुई है।

दुनिया की अधिकांश आधुनिक क्रान्तियों का विस्फोट आधुनिकता के आगमन के बाद और आधुनिकता द्वारा उत्पन्न की गयी त्रासदियों के विरुद्ध हुआ है। परन्तु, सभी आधुनिक क्रान्तियों में आधुनिकता द्वारा उत्पन्न की गयी समस्याओं का आधुनिकता के द्वारा

ही हल किये जाने भी कोशिश भी हुई है और इस क्रम में क्रान्ति के द्वारा आधुनिकता के दोषों को दूर करने के ही प्रयास हुए हैं। सभी आधुनिक क्रान्तियों में किसी न किसी तरह की विचारधारा का प्रयोग जिन बहुत से उद्देश्यों को लेकर किया जाता है उनमें विचारधारा का एक उद्देश्य आधुनिकता को क्रान्तिधर्मियों के मनोनुकूल बनाकर प्रस्तुत करने के लिए भी होता है। हन्ना आरेंट कहती हैं कि आधुनिक सेकुलर युग में विचारधाराओं के बारे में यह माना जाता है कि (चाहे वे राजनीतिक हो, मनोवैज्ञानिक हो या सामाजिक) यह सभी किसी भी ज्ञात परम्परागत धर्म की अपेक्षा चोट पहुँचाने वाले यथार्थ के प्रभाव के विरुद्ध मनुष्य की आत्मा को अधिक अच्छी तरह से प्रशिक्षित करती हैं (आरेंट, 1961: 135)। परन्तु, यह मान्यता ईश्वरीय विवेक के प्रति आणविक हथियारों के युग में मनुष्य को वैसे ही छोड़ देती है जैसे किसी बच्चे को चाकू के सहारे आणविक हथियारों से लड़ना हो (आरेंट, 1961: 135)। विश्वास का यह अन्त हमारे वर्तमान समय और अतीत के बीच एक प्रमुख अन्तर पैदा करता है। इस अन्तर ने सार्वजनिक जीवन में भविष्य के प्रति मनुष्य को आशारहित कर दिया है (आरेंट, 1961: 135)। हन्ना आरेंट कहती हैं कि आधुनिकता के इस प्रारूप को मैकियावेली ने राजनीति और शासन के मूलभूत सूत्र के रूप में स्थापित करने की पहल की और आगे चलकर यूरोप के राजनीतिक चिन्तन का यह एक प्रमुख तत्व बन गया। मैकियावेली ने राजनीति से कर्म (एक्शन) को विलुप्त कर दिया और इसका परिणाम यह हुआ कि लोगों के जीवन में शक्ति संचय की प्रेरणा प्रभावी तो हुई परन्तु सम्मान अर्जित करने की प्रेरणा धराशाई हो गयी (आरेंट, 1961: 137)।

मैकियावेली ने समुचितता (फिटनेस) के अर्थ वाली ग्रीक शुभ की अवधारणा और ईसाइयत वाली निरपेक्ष शुभ की अवधारणा दोनों को सार्वजनिक जीवन से अर्थात् राजनीतिक जीवन से बहिष्कृत कर दिया और उनकी उपादेयता को मात्र व्यक्तिगत एवं पारिवारिक जीवन तक सीमित कर दिया (आरेंट, 1961: 137)। यह एक ऐसा उलटफेर था जिसमें सार्वजनिक जीवन का सद्गुण पारिवारिक विषय बन गया और पारिवारिक जीवन सम्भरण के विषय सार्वजनिक जीवन में अन्तर्वलित हो गये। जिसका परिणाम यह हुआ कि सार्वजनिक जीवन और राजनीति जो पहले परमार्थ साधन के विषय थे अब उनके द्वारा भी पारिवारिक स्वार्थ की साधना सम्भव थी। परम्परा की व्याख्या में आधुनिकता के द्वारा उत्पन्न की गयी यह एक ऐसी टूटन या 'मॉडर्न ब्रेक इन ट्रेडिशन' (आरेंट, 1961: 15) था जिसने नैतिकता की अवधारणा को ही बीच से दो भागों में बाँट दिया। अब सार्वजनिक जीवन में नैतिकता का अर्थ सफलता और व्यक्तिगत जीवन में नैतिकता का अर्थ सदाशयता बन गया। परन्तु, दूसरी ओर जिस तरह से सार्वजनिक जीवन निजी जीवन को अच्छा करता जा रहा था (आज तो बहुत हद तक कर भी लिया है) उसमें व्यक्तिगत जीवन की सदाशयता को सार्वजनिक जीवन की सफलता से पराभूत हो ही जाना था। आज दुनिया के सभी समाजों की यही स्थिति है जिसमें लोग सार्वजनिक जीवन में भागीदारी पारिवारिक हितों की पूर्ति के लिए या आजीविका चलाने के लिए करते हैं। यह मॉडर्न ब्रेक इन ट्रेडिशन जहाँ हमें अतीत के धरोहर से रिक्त कर देती है वहीं

आधुनिकता या विचारधारा कोई ऐसा विश्वास का धरोहर उपलब्ध करने में अब तक सफल भी नहीं हुई है जिससे भूख (पारिवारिक जीवन) और सम्मान (सार्वजनिक जीवन) को एक ही विषय माना जाये। वस्तुत: सम्मान चेतना का विषय है और भूख भौतिक शरीर का विषय है। आधुनिकता ने भूख की तृप्ति के द्वारा सम्मान अर्जित करने का मार्ग अपनाया है। परन्तु, सम्मान के मापदण्ड अभी भी पूरी तरह से बदल नहीं पाये हैं। अन्तत: जैसे-जैसे भूख की तृप्ति का मार्ग प्रशस्त होता जाता है वैसे-वैसे भूख और भी बढ़ती जाती है। इस अन्तर्विरोध के कारण दुनिया में क्रान्ति की सम्भावना बढ़ती ही जा रही है। फलत: क्रान्ति को रोकने के प्रयास भी अधिक दृढ़ता से सक्रिय होते जा रहे हैं। क्रान्ति के लिए लोगों के पास सोशल स्पेस का होना आवश्यक है। जैसे-जैसे सोशल स्पेस को वर्चुअल स्पेस सीमित करता जायेगा वैसे-वैसे क्रान्ति की सम्भावना कम होती जायेगी। परन्तु, मनुष्य को एक चेतन प्राणी होने के अधिकार से बहुत दिनों तक वंचित नहीं रखा जा सकता है। यह भी कहना समुचित नहीं है कि मानव जाति के इतिहास और विकास का अन्तिम अध्याय लिखा जा चुका है। सम्भव है दुनिया की सबसे महान क्रान्ति का जन्म होना अभी बाकी है। वह क्रान्ति भविष्य में यदि धरती पर ही हुई तो वह आधुनिकता के विरोध में ही होगी। वह क्रान्ति भविष्य में यदि आगे बढ़ी हुई आधुनिकता के समर्थन में हुई तो दूसरे ग्रहों पर मानव की बस्तियों को बसाने के रूप में होगी।

'द प्रिंस' में नैतिकता के सन्दर्भ में मैकियावेली की अनुशंसाओं की ज्ञानमीमांसा 'प्रोटेस्टेंट इथिक्स' से निकली है। यह महज एक संयोग नहीं है कि मैक्स वेबर ने प्रोटेस्टेंट नैतिकता को पूंजीवाद का जन्म देने वाला एक प्रमुख कारण बताया है। वस्तुत: परम्परा के सहजीवन एवं समन्वित मूल्यदृष्टि को तोड़े बिना औद्योगिक सभ्यता का विकास सम्भव नहीं था। आज भी अप्रत्यक्ष देखा जा सकता है कि परम्परा के पुनरुत्थान की राजनीति करने वाले व्यक्तिगत जीवन में भले ही कोई मूल्यवान आस्था रखता हो परन्तु, सार्वजनिक राजनीतिक जीवन में उनके लिए 'सफलता ही सबसे बड़ा सद्गुण' होता है। सार्वजनिक जीवन में सफलता को ही सद्गुण मानने वाले साध्य-साधन का विवेक ठीक उसी प्रकार करते हैं जैसा सेक्यूलरवादी करते हैं। इस नीति को परम्परा के प्रति 'मैकियावेलियन एप्रोच' कहते हैं और इसमें परम्परा के प्रति आस्था का प्रदर्शन वास्तविक नहीं होता है बल्कि दिखावा होता है। अरस्तु से लेकर माओ तक जिन सन्दर्भों में क्रान्ति को देखा गया था उसके साथ एक मूल्यबोध जुड़ा हुआ था, जीवन को देखने-समझने की एक विश्व दृष्टि जुड़ी हुई थी। दुनिया की तमाम क्रान्तियों की अलग-अलग जो जन्मस्थली रही हैं वहाँ जीवन में जिस तरह के बदलाव आये हैं वे उसी तरह की क्रान्ति की दूसरी लहर से पूरी तरह से मुक्त नहीं हुई हैं। परन्तु, इस बीच जीवन को देखने-समझने की एक विश्वदृष्टि बदल चुकी है। ऐसे में प्रश्न उठता है कि आज क्रान्तियों की ज्ञानमीमांसा के सूत्र कहाँ से प्राप्त किए जा सकते हैं?

क्रान्तियों की ज्ञान मीमांसा को समझने के लिए अरस्तु से बेहतर कोई प्रस्थानबिन्दु नहीं है। क्रान्ति का जो प्रचलित अर्थ है उसमें क्रान्ति सामूहिक प्रयत्नों से राजनीतिक व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन लाने से सम्बन्धित है। इस अर्थ में क्रान्ति स्थापित राजनीतिक व्यवस्था

और शासन के प्रति अविश्वास की अभिव्यक्ति है। इस अविश्वास का सम्बन्ध इस प्रश्न से है कि राज्य में सत्ता प्राप्त करने के वैधानिक दावे क्या हैं और यदि ऐसे दावे एक से अधिक हैं तब उनमें सामंजस्य कैसे स्थापित किया जाये? वस्तुत: अरस्तु ने राज्यों का जो औपचारिक वर्गीकरण प्रस्तुत किया है उसका सम्बन्ध प्रश्न से है (सेबाइन, 1987: 94)। यह प्रश्न प्लेटो के समक्ष भी उपस्थित हुआ था किन्तु, प्लेटो ने यह मान लिया कि सत्ता प्राप्त करने के लिए विवेक और सद्गुण के निरपेक्ष दावे होते हैं (सेबाइन, 1987: 94)। अरस्तु का विचार है कि यह प्रश्न सामान्य नैतिक नियमों के सिद्धान्त का नहीं है बल्कि सिद्धान्त को व्यवहारिक रूप देने का है। इसका कारण सारे प्रश्न के लिए सापेक्ष उत्तर व्यावहारिक है (सेबाइन, 1987: 95)। इस व्यवहार को खोजने के लिए अरस्तु राज्य की प्रकृति के बजाय राज्य के औचित्य को ध्यान में रखने का सुझाव देते हैं। इसके पीछे तर्क यह है कि राज्य की प्रकृति के आधार पर सत्ता प्राप्ति के विरोधी दावेदारों की समीक्षा करने पर विरोधी दावों के साथ न्याय नहीं किया जा सकता है परन्तु यदि राज्य के औचित्य के आधार पर विरोधी दावों की मीमांसा की जाये तो किसी को इस तथ्य से असहमति नहीं होगी कि राज्य जीवन की रक्षा के लिए आया है और सद्जीवन की प्राप्ति के लिए बना हुआ है। इस तर्क को स्वीकार कर लेने पर सभी दावेदार यह भी मानेंगे कि राज्य को अधिकतम मात्रा में न्याय प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए और यह समानता के लक्ष्य को स्वीकार किये बिना सम्भव नहीं है। यदि राज्य की प्रकृति के बजाय राज्य के औचित्य के आधार पर सत्ता प्राप्ति के विरोधी दावों की मीमांसा की जाये तो लोकतन्त्रवादी के लिए समानता का अलग अर्थ निकालना और धनिकतन्त्रवादी के द्वारा समानता का अर्थ निकालना सम्भव नहीं होगा (सेबाइन, 1987: 95)। राज्य के औचित्य के आधार पर सत्ता प्राप्ति के विरोधी दावों की निरपेक्षता वैध साबित नहीं होती है। मसलन धनिकतन्त्रवादी का सत्ता प्राप्ति के निरपेक्ष दावे इस आधार पर खारिज हो जाते हैं कि राज्य कोई वाणिज्यिक 'संस्था' नहीं है (सेबाइन, 1987: 95)। इसी तरह लोकतन्त्रवादी का सत्ता प्राप्ति का निरपेक्ष दावा इस आधार पर खारिज हो जाता है कि राज्य कोई निरपेक्ष रूप से सामान्य व्यक्तियों की संस्था नहीं है।[2]

जब राज्य के औचित्य के आधार पर सत्ता प्राप्ति के विरोधी दावों की मीमांसा की जाती है और तब भी राजनीति और राज्य व्यवस्था एवं शासन के प्रति अविश्वास को दूर करने का सूत्र नहीं मिलता है, इसका तात्पर्य यह हुआ कि मानव दशाओं (लेबर वर्क एवं एक्शन) का सन्तुलन बिगड़ गया है। इसका यह भी अर्थ निकलता है कि राजनीति ने अब स्थायित्व एवं परिवर्तन के मध्य सन्तुलन बनाये रखने की शक्ति को खो दिया है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सिद्धान्त व्यवहार को समझने में और व्यवहार मूल्यों को आत्मसात करने में विफल रहा है। इसी तरह जब राज्य की प्रकृति के आधार पर उपजे अविश्वास से क्रान्ति का संगठन किया जाता है तब एक त्रुटि के निवारण के लिए दूसरी त्रुटि का सन्धान ही परिलक्षित होता है। परन्तु, सत्ता प्राप्ति के परस्पर विरोधी दावों (क्रान्ति भी दावा है) के निवारण के लिए राज्य के औचित्य के आधार पर दावों की समीक्षा का भले ही अरस्तु ने एक आधारभूत सिद्धान्त दिया

हो किन्तु आज उस सिद्धान्त को अप्रासंगिक कर दिया गया है। इस अप्रासंगिकता का कारण अरस्तु के चिन्तन की त्रुटि नहीं है। बल्कि, इसका कारण वह वैज्ञानिक ज्ञान और आधुनिकता है जिसने राजनीति को कार्य (वर्क) के धरातल पर कैद कर लिया है। इस धरातल पर राज्य का औचित्य सद्गुण में साझेदारी से सिद्ध नहीं होता है बल्कि भौतिक एवं ऐन्द्रिक सुख प्राप्ति के अवसर को सर्वसुलभ कराने की क्षमता से होता है। अन्ततः आधुनिक दुनिया में जो हताशा और सन्त्रास है उसकी व्याख्या करने में परम्परागत सिद्धान्त सफल नहीं हैं यह कहना बहुत तार्किक नहीं है। इसकी जगह यह कहना अधिक उपयुक्त है कि आधुनिक सिद्धान्त जो विचारधाराओं की आड़ में बने हैं वे अपने समय की विसंगतियों की व्याख्या नहीं कर पा रहे हैं।

क्रान्तियों की अन्तर्यात्रा

क्रान्ति के सन्दर्भ में उपर्युक्त पृष्ठभूमि के बाद अब दुनिया के कुछ महत्वपूर्ण क्रान्तियों की चर्चा की जा सकती है। हन्ना आरेंट ने अमेरिका की क्रान्ति को दुनिया की सबसे सफल क्रान्तियों में से एक बताया है (आरेंट, 1990: 24)। इसकी शुरूआत एक युद्ध से होती है और समापन क्रान्ति से होता है (आरेंट, 1990: 17)। यद्यपि यह कोई सर्वथा नवीन घटना नहीं थी। प्राचीन काल से ही युद्ध और क्रान्ति के बीच गहरा रिश्ता रहा है। युद्धों ने क्रान्तियों को एवं क्रान्ति ने युद्धों को जन्म दिया है या फिर क्रान्तियाँ युद्ध में और युद्ध क्रान्ति में तब्दील हो गये हैं। अमेरिकी क्रान्ति और फ्रांसीसी क्रान्ति के मध्य अन्तर स्पष्ट करते हुए हन्ना आरेंट लिखती हैं कि अमेरिका में स्वतन्त्रता का युद्ध मुक्ति की क्रान्ति में बदल गया और फ्रांस में स्वतन्त्रता की क्रान्ति प्रतिरक्षा और आक्रमण के युद्ध में तब्दील हुई (आरेंट, 1990: 17-18)। क्रान्तियों को यदि क्रान्तियों की घटनाओं की प्रकृति के आधार पर देखें तो ब्रिटेन की डीगर्ट क्रान्ति भी प्रतिरक्षा और आक्रमण के युद्ध में बदली और ऐसा ही बोल्सेविक क्रान्ति के साथ भी हुआ। परन्तु, ब्रिटेन के ग्लोरियस रिवोल्यूशन ने प्रतिरक्षा और आक्रमण के युद्ध का रास्ता नहीं अपनाया बल्कि शासन एवं राजनीति के प्राचीन विवेक की पुनर्स्थापना की। हन्ना आरेंट कहती हैं कि क्रान्ति का एक अर्थ पुनर्स्थापना (रेस्टोरेशन) भी होता है (आरेंट, 1990: 43)। यदि क्रामवेल की डीगर्ट क्रान्ति के द्वारा स्थापित क्रान्ति को क्रान्तिकारी तानाशाही के सन्दर्भ में देखा जाये तो लिबरल लोगों की ग्लोरियस रिवोल्यूशन के रूप में संवैधानिक राजतन्त्र की पुनर्स्थापना शासन एवं राजनीति की प्राचीन विवेकी पुनर्स्थापना भी है। इस दृष्टि से मार्क्सवादी क्रान्ति की योजना में वर्गविहीन एवं राज्यविहीन समाज की स्थापना का लक्ष्य (साम्यवाद) आदिम साम्यवाद के वर्ग एवं राज्यविहीन समाज की पुनः प्रतिष्ठा (उत्पादन की शक्तियों का पूर्ण विकास करने के बाद) को प्रतिध्वनित करता है।

हन्ना आरेंट पुनर्स्थापना या पुनर्वापसी (रेस्टोरेशन) के अर्थ में क्रान्ति को समझने का प्रयास करते हुए रिवोल्यूशन शब्द की व्याख्या करते हुए कहती हैं कि मूल रूप से यह एस्ट्रोनॉमी का शब्द है (आरेंट, 1990: 42)। कॉपरनिकस के अध्ययनों में यह शब्द नक्षत्रों की

गति और घूर्णन के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है जिसकी प्रवृत्ति चक्रीय है (आरेंट, 1990: 42)। ग्रीक चिन्तन में शासन व्यवस्थाओं के परिवर्तन की चक्रीय अवधारणा का स्वरूप भी नक्षत्रों के घूर्णन की चक्रीय प्रवृत्ति से समानता रखता है। ग्रह नक्षत्रों के घूर्णन की गति के अर्थ में क्रान्ति शब्द का प्रयोग करने पर मानव समाज में क्रान्ति के सूत्रधार पूर्वनियत नियति में मात्र एजेंट भर सिद्ध होते हैं (आरेंट, 1990: 42)। इसलिये मानव समाज के रिवोल्यूशन और खगोलीय रिवोल्यूशन में फर्क करना अनिवार्य है।

इस अनिवार्यता का कारण जैसा कि हन्ना आरेंट कहती हैं कि खगोलीय रिवोल्यूशन के सहभागी तत्व गति के एक नियत नियम से बँधे होते हैं परन्तु, ठीक उसी प्रकार का कोई बन्धन मनुष्य पर नहीं होता है। प्लेटो से लेकर पोलीबियस तक शासन के परिवर्तन तथा इतिहास के उत्थान एवं परिवर्तन की जो व्याख्या है वह खगोलीय और सोशल रिवोल्यूशन को काफी हद तक एक जैसा मान लेता है। यद्यपि आधुनिक काल में आकर खगोलीय रिवोल्यूशन और सोशल रिवोल्यूशन के बीच की समीपता को औचित्यपूर्ण दूरी तक ले जाया गया। परन्तु, मूल की पुनर्स्थापना के अर्थ में क्रान्ति का परिचय नहीं बदला। हन्ना आरेंट लिखती हैं कि अमेरिकी एवं फ्रांसीसी क्रान्ति के नायकों का भी आरम्भिक विचार यही था कि उन्हें शासन के उस पुराने स्वरूप की स्थापना करनी है जो अपने उपनिवेशवाद (अमेरिकी क्रान्ति के सन्दर्भ में) और निरंकुश राजतन्त्र (फ्रांसीसी क्रान्ति के सन्दर्भ में) के द्वारा विकृत होने से पूर्व था (आरेंट, 1990: 44)। परन्तु, अमेरिका एवं फ्रांस में एक बार क्रान्ति आरम्भ होने के बाद क्रान्ति के नायकों को यह अनुमान हो गया कि सामाजिक दशाओं में जो बदलाव हो चुके हैं उसके कारण उन्हें प्राचीन राजनीतिक दशाओं की पुनर्स्थापना से आगे जाना होगा (आरेंट, 1990: 45)। अमेरिकी क्रान्ति इस मामले में सफल रही कि उसने स्वतन्त्रता (लिबर्टी) की प्राप्ति के लिए ब्रिटिश संविधान के आदर्श से शुरू करके स्वाधीनता (इंडिपेंडेंस) के लक्ष्य को गणतन्त्रवाद के रूप में प्राप्त करके अपने लक्ष्य को प्राप्त किया (आरेंट, 1990: 56)। इस कार्ययोजना में स्वतन्त्रता के रास्ते पर चलने से आगे जिस बिखराव की सम्भावना थी और जिसे ब्रिटिश संविधान के लक्ष्य को सामने रखकर पूरा नहीं किया जा सकता था उसे गणतन्त्रवाद के द्वारा सम्मान सहित प्राप्त किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि अमेरिकी क्रान्ति बिखराव के भँवर में फँसने से बच गयी। इसके विपरीत फ्रांसीसी क्रान्ति में सामन्तवाद के विरोध के बाद निरंकुश राजतन्त्र के स्थान पर शासन एवं राजनीति के किस प्रतिमान को स्थापित करना है जो स्वतन्त्रता, समानता एवं न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने में सहायक हो, वह अन्त तक सुनिश्चित नहीं हो सका।

वस्तुत: दुनिया की किसी भी बड़ी क्रान्ति में न तो क्रान्ति की एक ही धारा रही है और न ही प्रतिक्रान्ति की एक ही धारा रही है। मुख्य क्रान्ति के साथ-साथ क्रान्ति की अन्य धाराएँ भी चल रही होती हैं और ठीक उसी तरह मुख्य क्रान्ति के विरुद्ध प्रतिक्रान्ति की मुख्यधारा के साथ उसकी उपधाराएँ भी चल रही होती हैं। मुख्य क्रान्ति की सफलता क्रान्ति की उपधाराओं की सफलता से अपनी जीवनशक्ति प्राप्त करती है। अमेरिकी क्रान्ति में क्रान्ति

की मुख्यधारा के विरुद्ध और उपधाराओं के विरुद्ध आन्तरिक प्रतिक्रान्ति की धाराएँ बहुत कम थीं। इस क्रान्ति के विरुद्ध औपनिवेशिक शक्ति ब्रिटेन का संघर्ष भी क्रान्ति की मुख्य धारा से ही था। इसका परिणाम यह हुआ कि अमेरिकी क्रान्ति की धाराएँ विस्तृत हुईं और उसकी जड़ें गहरी होती चली गईं। इसके विपरीत फ्रांसीसी क्रान्ति में क्रान्ति की मुख्यधारा और इसकी उपधाराओं के विरुद्ध शुरू से ही आन्तरिक प्रतिक्रिया बहुत तीव्र थी और यह प्रतिक्रिया बेस्तिली के पतन के बाद कम तो नहीं हुईं उल्टे बाद में प्रतिरोध भी बहुत बढ़ गया। अमेरिकी क्रान्ति समृद्धि के संरक्षण के लिए संघ एकजुटता की क्रान्ति है और फ्रांसिसी क्रान्ति समृद्धि के बँटवारे के प्रश्न और उसके प्रारूप को लेकर राजनीतिक कार्ययोजना की स्पष्टता से ग्रस्त है। ऐसा लगता है कि जैसे फ्रांस की क्रान्ति में अनेक ब्रिटिश क्रामवेल आ धमके हों। फ्रांसीसी क्रान्ति के ऐसी ही अनेक विरोधी तत्वों को उजागर करने के क्रम में हन्ना आरेंट मार्क्स के एक कथन को उद्धृत करती हैं। वह कथन यह है कि फ्रांसीसी क्रान्ति रोमन वस्त्रों में लड़ी गयी क्रान्ति थी (आरेंट, 1990: 50)। फ्रांसीसी क्रान्ति का सन्दर्भ आदर्श रोमन रिपब्लिक था। जहाँ पेरोबेस्पियर से लेकर नेपोलियन तक के आदर्शों में बुर्जवा व संस्कृति की झलक थी और दूसरी ओर जो दबी-कुचली हुई जनता थी उसका आदर्श भूख से मुक्ति था। इस लिहाज से फ्रांसीसी क्रान्ति में नायकों की स्वतन्त्रता का आदर्श राजनीतिक स्वतन्त्रता (स्वाधीनता नहीं) था और जनता का आदर्श आर्थिक आजादी था, किन्तु दोनों कभी समुचित रूप से समायोजन के मुकाम तक नहीं पहुँच पाये। इसका परिणाम यह हुआ कि फ्रांसीसी क्रान्ति अपने को नागरिक अनुबन्ध में नहीं बदल पायी और बिखर गयी। बिखराव के इस काल में पेरोबेस्पियर की हत्या हुई और नेपोलियन को क्रान्ति की रक्षा के नाम पर क्रान्तिकारियों को मौत के घाट उतार देने का मौका मिल गया। हन्ना आरेंट की शब्दावली में कहें तो फ्रांस की क्रान्ति की पृष्ठभूमि वर्क पर आधारित है। दूसरी ओर अमेरिकी क्रान्ति अपने को नागरिक अनुबन्ध में परिवर्तित करने में सफल रही (आरेंट, 1990: 194)। इसने स्वतन्त्रता, समानता और स्वाधीनता की उपधाराओं को बिखरने नहीं दिया। हन्ना आरेंट की शब्दावली का प्रयोग करते हुए कहा जाये तो अमेरिकी क्रान्ति में जनता ने राजनीति और शासन में एक्शन की पुनर्प्रतिष्ठा की।

यद्यपि हन्ना आरेंट ने अमेरिकी क्रान्ति की कमियों और फ्रांसीसी क्रान्ति की उपलब्धियों की भी चर्चा की है। परन्तु, उनके लेखन में अमेरिकी क्रान्ति की प्रशंसा और फ्रांसीसी क्रान्ति के प्रति अवहेलना के भाव ही अधिक व्यक्त हुए हैं। जेम्स विल्सन को उद्धृत करते हुए हन्ना आरेंट अमेरिकी क्रान्ति में ग्रीक गौरव की पुन: अभिव्यक्ति देखती हैं (आरेंट, 1990: 196)। इसके विपरीत फ्रांसीसी क्रान्ति के बारे में वे कहती हैं कि इसने मानव जाति को आग के हवाले कर दिया (आरेंट, 1990: 46)। यदि फ्रांसीसी क्रान्ति से रोमन गणतन्त्रवाद की प्रवृत्ति को निकाल दिया जाये तो बोल्शेविक क्रान्ति में भी फ्रांस क्रान्ति की झलक दिखती है।

हन्ना आरेंट ने बोल्शेविक क्रान्ति का अध्ययन करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि लेनिन ने पार्टी को पहले सोवियत संगठनों के अग्रगामी दस्ते के रूप में इस्तेमाल किया।

किन्तु, क्रान्तिकाल में ही लेनिन यह भी समझने लगे थे कि पार्टी को विशेष रूप से शक्तिशाली बनाने का प्रयास आवश्यक है क्योंकि रूस जैसे पिछड़े हुए क्षेत्र में आर्थिक विकास के लक्ष्य को अपरिपक्व लोगों के हाथों में नहीं छोड़ा जा सकता है। इस नाते लेनिन ने सोवियत संगठनों के ऊपर जिन नये संस्थानों को वरीयता देना आरम्भ किया वह लेनिन के पहले की सोच के विपरीत थी। हन्ना आरेंट लिखती हैं कि यह रूस में क्रान्ति की असफलता की शुरुआत थी और यहीं से बोल्शेविक क्रान्ति ने फ्रांस क्रान्ति की ओर जाने वाले रास्ते पर चलना शुरू कर दिया था (आरेंट, 1990: 67)। फिर भी लेनिन के समय में हिंसा और विचारधारा का एकीकरण न हो इसके लिए पार्टी सुधारों पर भी ध्यान दिया गया। यह एक ऐसा पक्ष था जो क्रान्तिधर्मियों को अपने भीतर झाँकने का आह्वान करता है। संयोग से फ्रांस क्रान्ति में इस पक्ष पर कम ही ध्यान दिया गया था (आरेंट, 1990: 100)। परन्तु सोवियत संघ में भी जैसे-जैसे आर्थिक और तकनीकी विकास के लिए विशेषज्ञ संस्थाओं का निर्माण होता गया पार्टी और सोवियत परिषदों के बीच दूरी बढ़ती चली गयी। नयी जन्म लेने वाली संस्थाओं और उनके साथ पार्टी के गठजोड़ ने सोवियत संघ में मुक्ति की क्रान्ति को धीरे-धीरे अपनी गिरफ्त में ले लिया। फ्रांस में क्रान्ति के बाद आतंक के राज्य की स्थापना हुई और बोल्शेविक क्रान्ति भी हिंसा के राज्य और अधिनायकवाद में बदल गया। फ्रांस की क्रान्ति के विरुद्ध जिस तरह यूरोप ने हिंसक एकजुटता दिखाई थी उसी तरह यूरोप में बोल्शेविक क्रान्ति के बाद भी हिंसक एकजुटता का प्रदर्शन किया गया परन्तु, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अमेरिकी क्रान्ति ने दुनिया को हिंसा से मुक्त करने का प्रयास किया। इस दृष्टि से क्रान्ति की मीमांसा करने के लिए यह आवश्यक है कि क्रान्ति को उन संरचनाओं के आधार पर भी समझा जाये जिसकी स्थापना क्रान्ति के द्वारा हुई। साथ ही इस क्रम में यह याद रखा जाये कि 'राज्य क्या है' और इसका 'औचित्य' क्या है?

राज्य कोई सैनिक संगठन नहीं है क्योंकि इसके नागरिक सिर्फ सैनिक नहीं होते हैं और न ही राज्य का औचित्य मात्र प्रतिरक्षा करने में है। राज्य कोई व्यापारिक संगठन भी नहीं है क्योंकि इसके नागरिक सिर्फ व्यापारी नहीं होते हैं और न ही राज्य का औचित्य मात्र आर्थिक समृद्धि है। राज्य कोई जातीय संगठन भी नहीं है क्योंकि इसके नागरिक किसी एक ही जाति के नहीं होते हैं और न ही राज्य का औचित्य मात्र जाति विशेष का उत्थान करना है। इसी तरह राज्य कोई धार्मिक संगठन भी नहीं है क्योंकि इसके नागरिक एक ही धर्म के नहीं होते हैं और न ही राज्य का औचित्य सिर्फ आध्यात्मिक उन्नति है। इसके विपरीत राज्य पूर्णता की प्राप्ति में संलग्न अपूर्ण व्यक्तियों का संगठन है। जो पूर्णता की प्राप्ति में अधिक सक्षम व्यक्तियों के अनुभवों एवं उपलब्धियों का ऐसा समायोजन करता है जिससे कम सक्षम व्यक्तियों को पूर्णता प्राप्त करने में सुगमता होती है और कम सक्षम व्यक्तियों के अनुभवों एवं उपलब्धियों से सक्षम व्यक्तियों को समाज के लिए पूर्णता प्राप्ति की निरन्तरता को गतिमान रखने में मदद मिलती है।

निश्चित ही राज्य के इस औचित्य से न तो अमेरिकी क्रान्ति के सूत्रधार असहमत थे और न ही ग्लोरियस रिवोल्यूशन के नायक असहमत थे। फ्रांसीसी और बोल्शेविक क्रान्ति के

प्रणेता भी इससे असहमत नहीं थे। परन्तु, जब इस औचित्य को प्राप्त करने के लिए संस्था निर्माण की बात आई तब ग्लोरियस रिवोल्यूशन से लेकर बोल्शेविक क्रान्ति तक एक ही प्रकार की संस्थाएँ बनायी गयीं। वह संस्था थी केन्द्रीकृत औद्योगिक उत्पादन प्रणाली की रक्षा करने वाली संस्था। इस संस्था ने राज्य की प्रकृति और औचित्य के प्रश्न को ही मूल स्थान से भटका दिया और आज सबके सब उस भटके हुए राज्य और उसकी राजनीति को वास्तविक मानकर उसी को सिद्ध करने में लगे हुए हैं।

केन्द्रीकृत औद्योगिक उत्पादन प्रणाली की प्रतिरक्षा में लगी हुई राजनीतिक संस्थाएँ चाहे उनका स्वरूप संसदात्मक राजतन्त्र (ब्रिटेन) हो, अध्यक्षात्मक गणतन्त्र (अमेरिका) हो या जनवादी लोकतन्त्र (सोवियत संघ एवं चीन) हो, सभी राज्य को धनतन्त्र एवं सैनिक तन्त्र का मिश्रित स्वरूप प्रदान कर देते हैं। ऐसा राज्य पदसोपानीय शृंखला का निर्माण करता है और समाज को पहले से अधिक विभाजित कर देता है। ऐसे राज्य और राजनीति से न तो ग्रीक गौरव को हासिल किया जा सकता है न मनुष्य की बेगानगी दूर की जा सकती है और न ही सनातन परम्परा का पुनरुत्थान किया जा सकता है। ऐसा इसलिये की केन्द्रीकृत औद्योगिक उत्पादन प्रणाली की प्रतिरक्षा में लगा राज्य मानवीय पूर्णता का अर्थ आर्थिक समृद्धि की प्राप्ति में खोजता है। अत: यदि अमेरिकी क्रान्ति को दुनिया की सबसे सफल क्रान्ति माना जाये तो इसने मानव जाति को एक अन्तहीन लिप्सा में ढकेल दिया है। इस अन्तहीन लिप्सा की प्राप्ति के लिए दुनिया के हर कोने में न्यूयार्क, पेरिस और लन्दन तथा मास्को और पीकिंग का उगना अनिवार्य है। परन्तु 300 वर्षों के बाद भी यह न तो सम्भव हुआ है और न ही 3000 वर्षों बाद ही यह सम्भव होगा। परन्तु, इस भ्रम को यथार्थ बनाने के लिए मानव जाति सतत हिंसा में संलग्न अवश्य है।

वस्तुत: हन्ना आरेंट को क्रान्तियों की मीमांसा के लिए 'अफोरिक तर्कवाक्य'[3] और 'एग्जियोमेटिक तर्कवाक्य'[4] की यथार्थ दूरी और भेद को बनाये रखने चाहिए था। सुकरात का यह तर्कवाक्य कि 'अपने को जानो' एक अफोरिक तर्कवाक्य है। इसमें पीढ़ियों के अनुभव, परम्परा के तर्कवाक्य और स्वबोध तीनों का सन्तुलन है। अत: सुकरात जब 'अफोरिक तर्कवाक्य' के माध्यम से यह कहते हैं कि 'अपने को जानो' तब इसका अर्थ होता है, 'अपनी कमियों को जानो'। इसके विपरीत एग्जियोमेटिक तर्कवाक्य में स्वानुभूति की प्रधानता होती है और इसमें स्वानुभूति को सही सिद्ध करने के लिए परम्परा के तर्क का सहारा सेलेक्टिव तरीके से किया जाता है या स्वयंसिद्ध मान लिया जाता है। आज के समय में विचारधारा एग्जियोमेटिक तर्कवाक्य की तरह प्रयोग में लायी जाती हैं। इस अर्थ में अपना विस्तार करो एक एग्जियोमेटिक तर्कवाक्य है।

इस तथ्य को एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है - सुकरात ने एक ओर एक तर्कवाक्य का इस्तेमाल करते हुए जब कहा कि मैं दुनिया का सबसे बुद्धिमान प्राणी हूँ तब इसका अर्थ यह हुआ कि मैं अपनी सीमाओं को जानता हूँ। इसी तरह जब अगस्त काम्टे ने एग्जियोमेटिक तर्कवाक्य का प्रयोग करते हुए उसी वाक्य को दोहराया कि मैं दुनिया का

सबसे बुद्धिमान प्राणी हूँ तब इसका अर्थ यह हुआ कि मैं वैज्ञानिक पद्धति का जानकार होने के कारण बुद्धिमान हूँ। हिन्दू पुनरुत्थानवाद, इस्लाम पुनरुत्थानवाद, यहूदी पुनरुत्थानवाद या ईसाई पुनरुत्थानवाद के नाम पर आज जहाँ कहीं भी राजनीतिक पहल हो रही है उसमें एग्जियोमेटिक तर्कवाक्य का ही प्रयोग हो रहा है। क्योंकि, यह सभी केन्द्रीकृत औद्योगिक उत्पादन प्रणाली के माध्यम से अपने पुनरुत्थानवाद के लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते हैं और ऐसा करते हुए वे वास्तव में परम्परा से हाथ धोने की अवस्था में ही पहुँच जाने वाले हैं।

हन्ना आरेंट ने भी अमेरिकी क्रान्ति को एग्जियोमेटिक तर्कवाक्यों के द्वारा ही समझने का प्रयास किया और एक प्रकार की हिंसा के प्रतिरोध के द्वारा दूसरे प्रकार की हिंसा की स्थापना के उपक्रम को पकड़ने में चूक गयीं। उस चूक को हाल के वर्षों में माइकल सैंडल ने एक भिन्न परिप्रेक्ष्य में सामने लाने का प्रयास किया है। सैंडल ने सामुदायिक मूल्यों के क्षरण को रेखांकित करने के क्रम में अमेरिकी गणतन्त्रतवाद के द्वारा केन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना के निर्माण के प्रयासों के अन्तर्विरोधों को उजागर किया है (सैंडल, 1984)। माइकल सैंडल का अभिमत है कि केन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था के द्वारा नेशनल कान्सेंशस के लक्ष्य को प्राप्त करने के प्रयास में अमेरिकी गणतन्त्रतवाद का पतन हुआ है। वस्तुत: जिस तरह खगोलीय पिण्डों के घूर्णन की गति में चक्रीय परिवर्तन (क्रान्ति) एक सतत प्रक्रिया है उसी तरह सामाजिक क्रान्ति भी एक सतत प्रक्रिया है।

क्रान्ति : तमसो मा ज्योतिर्गमय

दुनिया की प्रत्येक क्रान्ति चाहे वह सफल हुई हो या असफल हुई, उनकी प्रासंगिकता आज भी पूरी तरह से समाप्त नहीं हुई है। क्योंकि, प्रत्येक क्रान्ति की अनेकानेक ऐसी माँगें हैं जो अभी पूरी नहीं हुई हैं या जितनी पूरी होनी चाहिए थी उतनी नहीं हुई हैं। क्रान्ति जब एक सतत प्रकिया है तब क्रान्ति को समाप्त होने वाली प्रक्रिया मान लेना भी शब्दार्थ की दृष्टि से तर्क विरुद्ध है और वास्तविकता की दृष्टि से भी। समय की परिधि और क्रान्ति की परिधि एक ही है। प्रत्येक खगोलीय पिण्ड की रिवोल्यूशन का एक वर्ष पूरा होने पर ब्रह्माण्ड वही नहीं रह जाता है बल्कि पहले से बड़ा हो जाता है। उसी प्रकार प्रत्येक क्रान्ति समाज को पहले से अधिक व्यापक कर देती है। परन्तु, देखा यह भी जा सकता है कि क्रान्तियों के बाद व्यवस्था का आकार तो बढ़ा है परन्तु उसमें व्यक्ति की हैसियत कम हो गयी है।

यहाँ आकर पुन: प्रश्न वही सामने आ जाता है कि राज्य पर प्राधिकार के औचित्यपूर्ण दावे क्या हैं और शासन का औचित्यपूर्ण प्राधिकार क्या है? इन दोनों प्रश्नों का सम्बन्ध मात्र क्रान्ति से नहीं है बल्कि राज्य और व्यक्ति के मध्य सम्बन्ध से भी है। आज राज्य और व्यक्ति के मध्य सम्बन्ध पिरामिड और उसकी आधारशिला जैसा हो गया है। व्यक्ति पिरामिड की आधारशिला बनकर राज्य के बोझ तले दबता जा रहा है जबकि इसी तरह के बोझ से मुक्ति के दावे के साथ दुनिया की क्रान्तियाँ अस्तित्व में आयी हैं। इस दृष्टि से देखने पर दुनिया की क्रान्तियों की पुनर्मीमांसा आवश्यक है। क्रान्ति चेतना की एक अवस्था की माँग

करता है और हीगल तथा मार्क्स दोनों ही इससे सहमत हैं। ऐसे में इस पर भी अवश्य विचार होना चाहिए कि क्रान्ति के किस नायक में चेतना के उस संसार का जागरण हुआ था जिसने स्व की चेतना का ऐसा विस्तार कर लिया था जो वैश्विक चेतना के सर्वथा अनुकूल हो।

इस दृष्टि से महात्मा बुद्ध और महात्मा गाँधी का उल्लेख सबसे ऊपर हो सकता है। आधुनिक समय में राजनीतिक क्षेत्र में क्रान्ति का जो मार्ग महात्मा गाँधी ने दिखाया वह अद्वितीय है। वह अद्वितीय मात्र इसलिये नहीं है कि उसमें अहिंसा का समावेश था बल्कि वह अद्वितीय इसलिये भी है कि इस क्रान्ति में न तो द्रोह भाव था और न ही यह किसी एक जाति के कल्याण तक सीमित था। दक्षिण अफ्रीका से लेकर भारत तक गाँधी पूरी मानव जाति के लिए आधुनिकता के सन्त्रासों के विरुद्ध लड़ रहे होते हैं और उनकी यह लड़ाई आज भी चल रही है। गाँधी एक ऐसे क्रान्ति के संवाहक थे जिसका ज्वार आज भी हर हृदय में है और जो हमें हर दिन प्रेरित करता है। यदि यह क्रान्ति भविष्य में सफल होती है तब हर जन्म लेने वाले शिशु को जन्म से ही कर्ज के जाल में जन्म नहीं लेना पड़ेगा और न ही हमें श्वास लेने योग्य वायु और पीने योग्य पानी के लिए मोहताज होना पड़ेगा। हन्ना आरेंट ने 'ऑन रिवोल्यूशन' की अन्तिम पंक्तियों में समाहार करते हुए लिखा है कि पोलिस के गौरव को प्राप्त करने के लिए मनुष्य में दीप्ति को जगाना होगा और इसके लिए सेल्फ रिफ्लेक्टिव होने की जरूरत है (आरेंट, 1990: 280-81)। क्या आधुनिकता और केन्द्रीकृत औद्योगिक उत्पादन प्रणाली को प्रश्रय देने वाली क्रान्तियों ने और उनके परिणामों ने सेल्फ रिफ्लेक्टिव होने के लिए मनुष्य के पास स्पेस रहने दिया है? इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर सम्भव नहीं है। गाँधी के नजरिये से देखें तो सेल्फ रिफ्लेक्टिव होने के लिए मनुष्य को सात पापों से मुक्त रहने की जरूरत है। गाँधी ने सिद्धान्त के बिना राजनीति, कर्म के बिना धन, आत्मा के बिना सुख, चरित्र के बिना धन, नैतिकता के बिना व्यापार, मानवता के बिना विज्ञान और त्याग के बिना पूजा को पाप कहा है (गाँधी, 1925)। इन पापों के साथ जीते हुए न तो दुनिया में वास्तविक क्रान्ति सम्भव है और न ही इन पापों के साथ जीते हुए हर मनुष्य सृष्टि में एक नयी शुरूआत ही हो सकती है। इसके लिए मानव जाति को सम्मिलित रूप से 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की क्रान्ति का सहारा लेना होगा।

टिप्पणी

1. अरस्तु ने सम्पूर्ण परिवर्तन, आंशिक परिवर्तन, आकस्मिक परिवर्तन और क्रमिक परिवर्तन सभी को क्रान्ति कहा है। देखें अरस्तु, द पॉलिटिक्स (अनुवादित एवं सम्पादित टी.ए. सिंगलैर (1992) पेंगुइन क्लासिक्स, न्यूयॉर्क, पृ 295 -356).
2. अरस्तु ने राज्य को असमान व्यक्तियों का एक ऐसा संगठन कहा है जो अपनी अलग-अलग आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए परस्पर सहयोग की आकांक्षा से एकजुट होते हैं।
3. सामान्य सत्य को अभिव्यक्त करनेवाले तर्कवाक्य को अफोरिक तर्कवाक्य कहते हैं। इस तर्कवाक्य के साथ हिप्पोक्रेट्स का नाम जुड़ा हुआ है यद्यपि ऐसे तर्कवाक्यों का प्रयोग दुनिया की हर सभ्यता

में होता है। यह परम्परा सिद्ध होते हैं और इनमें युगों-युगों का अनुभव निहित होता है। उदहारण के लिए 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' एक अफोरिक तर्कवाक्य है।

4. एग्जियोमेटिक तर्कवाक्य स्वयंसिद्ध मान्यताओं पर आधारित तर्कवाक्य होते हैं। यह गणितीय नियमों की तरह होते हैं।

सन्दर्भ

आरेंट, हन्ना (1961) *बिटवीन पास्ट एंड फ्यूचर,* वाइकिंग, न्यूयॉर्क.

आरेंट, हन्ना (1990) *ऑन रिवोल्यूशन,* पेंग्विन बुक्स, नई दिल्ली.

गाँधी, एम.के. (1925) *यंग इंडिया,* अक्टूबर 22.

जेरेमि, एल. अलबर्ग (2001) रूसो एण्ड द ओरिजनल सीन, *रेविस्टा पोर्टुगुसा डी फिलोसोफिया,* अक्टूबर-दिसम्बर.

झा, ब्रजकिशोर (2004) *प्रमुख राजनीतिक चिन्तक,* भाग-2, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, पृ. 293.

बर्न्स, जे.एच. (1966), बेन्थम एंड द फ्रेंच रिवोल्यूशन, *ट्रांजक्शन्स ऑफ द रॉयल हिस्टोरिकल सोसायटी,* खण्ड 16, दिसम्बर, पृ. 95-114.

माओ त्से तुंग (1965) *सिलेक्टेड वर्क,* भाग-1, फॉरेन लैग्वेज प्रेस, पीकींग, पृ. 105-106.

मार्क्स, कार्ल एवं फ्रेडरिक एंगेल्स (2013) कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2013, पृ. 30.

मार्क्यूज, हरबर्ट (1941) *रीजन एंड रिवोल्यूशन,* रूटलेज प्रेस, लन्दन.

मिश्र, विश्वनाथ (2007) *राजविद्या एवं राजनीतिशास्त्र,* विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर.

रेस, जेओफ्री (2006) ओरिजनल सीन इन द ओरिजनल पोजीशन : कीर्केगार्ड रीडिंग आफ जॉन रॉल्स, *जर्नल ऑफ द सोसाइटी ऑफ क्रिश्चियन एथिक्स,* 26(2) पृ. 61-91.

सेबाइन, जार्ज एच. (1987) *राजनीति दर्शन का इतिहास* (अनुवादक - विश्वप्रकाश), एस. चन्द एंड कम्पनी, नई दिल्ली.

सैंडल, माइकल जे. (1984) द प्रोसीजरल रिपब्लिक एंड द अनेन्कम्बर्ड सेल्फ, *पोलिटिकल थ्योरी,* भाग-12, अंक 1, पृ. 93.

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 18, संयुक्तांक, जनवरी-दिसम्बर 2020, पृ. 40-51)

चम्पारण सत्याग्रह, गाँधी एवं सविनय अवज्ञा का नैतिक आधार

प्रेम आनन्द मिश्र*

प्रस्तुत शोधपत्र चम्पारण सत्याग्रह को केन्द्र में रखते हुए गाँधी के सविनय अवज्ञा के नैतिक आधार के विश्लेषण का प्रयत्न करता है। इसमें चम्पारण आन्दोलन को एक पाठ के रूप में स्वीकार करते हुए उसे गाँधी के सत्याग्रह के 'विकासशील विज्ञान' के रूप में समझने का प्रयास किया गया है। इस शोधपत्र में मोतिहारी कोर्ट में दिये गये गाँधी के बयान - जो व्यवहार में सविनय अवज्ञा का उत्कृष्ट उदाहरण है - उसे उनकी दूसरी कृति हिन्द स्वराज (मूल 1909) तथा दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास (मूल 1928) के कतिपय सम्बन्धित सैद्धान्तिक विचारों - जो सविनय अवज्ञा के उनके सिद्धान्तों को दर्शाते हैं - को जोड़ कर देखा गया है। संरचनात्मक रूप से, यह शोधपत्र तीन भागों में विभाजित है। पहला भाग चम्पारण में नील की समस्या की पृष्ठभूमि से सम्बन्धित है। दूसरे भाग में गाँधी का चम्पारण में नील की समस्या में हस्तक्षेप और मोतिहारी कोर्ट में उनके बयान का वर्णन किया गया है। तीसरे भाग में गाँधी के सविनय अवज्ञा के नैतिक आधार को उनके बयानों एवं अन्य सम्बन्धित लेखनों को केन्द्र में रखकर निर्दिष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। इसका निष्कर्ष है; गाँधी आत्मबल या सत्यबल के साथ उच्च कानून के आधार पर कष्ट सहन द्वारा मानव निर्मित कानून/ राज्य के कानून को तोड़ने के लिए कहते हैं और यही उनके सविनय अवज्ञा का नैतिक आधार है।

*डीन एवं अध्यक्ष, गाँधी अध्ययन संकाय, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद (गुजरात)
E-mail: prchod@gujaratvidyapith.org

....हुक्म-उदूली की सजा विरोध किये बिना सहना; और यही मैंने स्वीकार किया है। ....जो हुक्म मुझे दिया गया था उसे न मानने का कारण सरकार के प्रति आदर भाव में कमीं नहीं बल्कि अपने जीवन के उच्चतर विधान - अन्तरआत्मा के आदेश का पालन था... (सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय खण्ड 13, 376-378)।

चम्पारण सत्याग्रह को केन्द्र में रखते हुए गाँधी के सविनय अवज्ञा के नैतिक आधार के विश्लेषण एवं पुनर्मूल्यांकन अकादमिक और व्यावहारिक दोनों ही दृष्टि से आज महत्वपूर्ण हैं। सर्वप्रथम, यह ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के सामने किसी भारतीय समस्या के समाधान के लिए गाँधी का पहला प्रणालीगत, वैज्ञानिक और व्यापक प्रयास था। साथ ही इस सत्याग्रह में 'प्रतीक, मिथक और कार्रवाई कार्यक्रम' तीनों सम्मिलित थे। यह वास्तव में नील के मुद्दे को हल करने के साथ-साथ 'प्रतिरोध' और 'पुनर्निर्माण' के माध्यम से चम्पारण के किसानों के बीच एक 'राजनीतिक चेतना' पैदा करने का भी लक्ष्य रखता था। दूसरा, चम्पारण आन्दोलन ने गाँधी की राजनीतिक एवं नैतिक सत्ता की बढ़ोतरी में मदद की और इसी कारण गाँधी एक राष्ट्रीय नेता/नायक बनकर उभरे। जैसा कि कई सब-अल्टर्न विद्वानों का सुझाव है कि यह चम्पारण था, जिसे गाँधी ने 'प्रयोग भूमि' के लिए चुना और भारतीय सन्दर्भ में 'सत्याग्रह की अपनी तकनीक' को परिपूर्ण किया। वस्तुत: चम्पारण सत्याग्रह गाँधीवादी राष्ट्रवाद के जन्म में सीधे योगदान देता है। तीसरा, यह पहली बार था कि किसानों और अन्य वर्गों, विशेष रूप से मध्यम वर्ग के बुद्धिजीवियों के बीच पुल का निर्माण किया गया था। दूसरे शब्दों में, चम्पारण सत्याग्रह पूंजीपतियों और किसानों के बीच एक कड़ी थी। चौथा, यद्यपि अन्तिम प्रस्ताव में किसानों की शिकायतों को केवल आंशिक रूप से सम्बोधित किया गया, लेकिन इस विचार को बल मिला कि ब्रिटिश को हराया जा सकता है। इस आन्दोलन से यह भी फलीभूत हुआ कि गाँधी के लिए, रचनात्मक कार्यक्रम या पुनर्निर्माण मानवीय कार्य नहीं है, बल्कि एक 'राजनीतिक कार्य' भी है, क्योंकि शोषण की जड़ अज्ञानता में है।

अकादमिक रूप से, सत्याग्रह के सम्बन्ध में चम्पारण सत्याग्रह को समझने के दो अभिगम हैं। पहला यह कि सूक्ष्म विवरण (माइक्रो डिटेल्स) के माध्यम से आगे बढ़े और इस सत्याग्रह का परीक्षण करे जैसा कि बोंडुरेंट (1954) और जीन शार्प (1960) आदि विद्वानों ने इसे किया है और दूसरा यह कि इसे गाँधी के समग्र दर्शन (होलिस्टिक फिलोसॉफी) के माध्यम से देखा जाए। पहला अपने सन्दर्भ तक सीमित है, जबकि दूसरा एक व्यापक सामान्यीकरण की ओर ले जाने के लिए बाध्य है। प्रस्तुत शोधपत्र में चम्पारण आन्दोलन को एक पाठ (टेक्स्ट) के रूप में स्वीकार करते हुए उसे गाँधी के सत्याग्रह के 'विकासशील विज्ञान' के रूप में समझने का प्रयास किया गया है। शोधपत्र में मोतिहारी कोर्ट में दिये गये गाँधी के बयान, जो व्यवहार में सविनय अवज्ञा का उत्कृष्ट उदाहरण है, उसे उनकी दूसरी कृति हिन्द स्वराज (मूल 1909) तथा दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास (मूल 1928) के कतिपय सम्बन्धित सैद्धान्तिक विचारों - जो सविनय अवज्ञा के उनके सिद्धान्तों को दर्शाते हैं - को जोड़ कर देखा गया है।

संरचनात्मक रूप से, यह शोधपत्र तीन भागों में विभाजित है। पहला भाग चम्पारण में नील की समस्या की पृष्ठभूमि से सम्बन्धित है। दूसरे भाग में, गाँधी का चम्पारण में नील की समस्या में हस्तक्षेप और मोतिहारी कोर्ट में उनके बयान का वर्णन किया गया है। तीसरे भाग में गाँधी के सविनय अवज्ञा के नैतिक आधार को उनके बयानों एवं अन्य सम्बन्धित लेखनों को केन्द्र में रखकर निर्दिष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

I

चम्पारण सत्याग्रह मूलत: नील की समस्या से सम्बन्धित था। नील की समस्या को सबसे पहले 1858-59 में दीनबन्धु मित्रा द्वारा लिखे गये एक बंगाली नाटक नीलदर्पण में जगह मिली। यह नील विद्रोह (इंडिगो रिवोल्ट) की कहानी है जो फरवरी-मार्च, 1859 में बंगाल में हुआ था, जब किसानों ने ब्रिटिश राज के तहत शोषणकारी खेती के खिलाफ विरोध करने के लिए अपने खेतों में नील बोने से इनकार कर दिया था। इसका उद्देश्य कलकत्ता के कुलीन बुद्धिजीवियों के बीच आवाज उठाना था ताकि किसानों के विद्रोह को शहरी विचारकों के साथ जोड़ा जाए। वस्तुत: गाँधी के चम्पारण में प्रवेश के पहले से ही नील की समस्या लम्बे समय से थी। यदि हम इतिहास में देखें, तो हम पाते हैं कि ब्रिटिश शासन के तहत नील की खेती न केवल दमनकारी थी, बल्कि अमानवीय भी थी। नील बोने की दो मुख्य प्रणालियाँ थीं - ज़िरत फार्म प्रणाली और रैयती या आसामीवार। ज़िरत प्रणाली के तहत, नील की खेती कारखानेदारों की जमीन पर किराये के श्रम के साथ की जाती थी। आसामीवार प्रणाली के तीन संस्करण थे - खुस्की, कुरतौली और तिनकठिया (मिश्रा 1963, 91-92)। यद्यपि, उनमें से तिनकठिया नील की खेती की सबसे दमनकारी प्रणाली थी, जिसके तहत रैयत (टेनेन्ट्स) 'सट्टा' नामक एक अनुबन्ध पर हस्ताक्षर करने के बाद अपने जमीन के एक हिस्से में नील उगाने के लिए सहमति व्यक्त करते थे।

समय-समय पर नील के लिए आरक्षित हिस्सेदारी अलग-अलग होती थी। नील विद्रोह से पहले, प्लांटर्स द्वारा माँगे जाने वाले हिस्से में पाँच या छह कट्ठों की मात्रा होती थी। यद्यपि, नील आन्दोलन के बाद यह क्षेत्र पाँच से तीन कट्ठों में सिमट गया था और इसलिये तिनकठिया कहलाई (प्रसाद : 1949, 14-15)। चम्पारण के रैयतों की अधिकांश परेशानी और दुखों का कारण तिनकठिया प्रणाली थी। जैसा कि 1860 में नील आयोग द्वारा रिपोर्ट में कहा गया था, पूरी प्रणाली सिद्धान्त रूप में शातिर, व्यवहार में हानिकारक और मौलिक रूप से निराधार थी। बंगाल के लोगों की तरह बिहार के रैयतों ने नील की खेती की प्रणाली में निहित उपर्युक्त बीमारियों को झेला। तिनकठिया प्रणाली के तहत रैयतों की स्थिति 'संरक्षण एवं निर्भरता' (ट्यूटलेज एंड डिपेन्डेंस) की थी (मिश्रा : 1963, 286)। राजकुमार शुक्ल, (गाँधी को चम्पारण लाने वाले) ने रैयतों की दयनीय स्थिति का बयान इस प्रकार किया, "कई रैयत उत्पीड़न के कारण मारे गये हैं, कई भाग गये हैं, कई नेपाल की तराई में बस गये हैं। सतवारिया के मेरे गाँव से, लगभग 200 परिवार उत्पीड़न के कारण नेपाल की तराई में चले

गये। मेरे पास 60 भैंसें और 300 गायें थीं, अब मेरे पास केवल 3 भैंस, 8 गाय और 6 बैल हैं" (मिश्रा : 1963, 347)। यह नील शोषण का परिदृश्य था, जिसने गाँधी को हस्तक्षेप करने के लिए मजबूर किया। इतिहास हमें यह भी बताता है कि इस तिनकठिया प्रणाली के खिलाफ हिंसक विद्रोह हुआ। उत्तर बिहार में दरभंगा (पंडौल) और नालसरिया में, 1867 में विद्रोह हुए (बकलैंड : 1901, खण्ड 1, 34)। फैक्ट्री का बँगला जलकर खाक हो गया। इसके अलावा कई गाँवों के रैयतों ने अपनी भूमि में नील से सम्बन्धित कुछ भी करने से इनकार कर दिया। 1868 में दंगा इतना गम्भीर हो गया कि मोतिहारी के स्टेशन की सुरक्षा के लिए सेना बुलानी पड़ी (तेन्दुलकर : 1957,10)। 13 फरवरी, 1907 को ब्लूमफील्ड, तिलहारा नील मामलों के प्रबन्धक की पीट-पीटकर हत्या कर दी गयी। इसके अलावा, 1908-09 में रैयतों ने खुद को संगठित किया और प्लांटर्स राज के खिलाफ उठे। उन्होंने कई संगठन, फंड और अपने सिग्नल बनाये। अक्टूबर, 1908 में नील की खेती के खिलाफ एक नियमित लीग का गठन किया गया था; जिसमें हिन्दू और मुस्लिम दोनों रैयतों द्वारा शपथ ली गयी (मिश्रा : 1963,101)।

राजनीतिक स्तर पर, बिहार प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन ने उत्तर बिहार में नील मुद्दे को प्रमुखता से सन्दर्भित किया। सम्मेलन के भागलपुर अधिवेशन के अध्यक्ष सचिदानन्द सिन्हा ने अपने भाषण में सरकार से दमन की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए पूरी जाँच करने का आग्रह किया (प्रसाद : 1949, 78)। ब्रजकिशोर प्रसाद ने बिहार प्रान्तीय सम्मेलन के अपने अध्यक्षीय भाषण में रैयतों पर किये गये अत्याचारों का वर्णन किया। इसी तरह नन्दकिशोर ने 3 अप्रैल, 1915 को प्रान्तीय सम्मेलन के अपने सम्बोधन में प्लांटर्स और रैयतों के बीच तनावपूर्ण सम्बन्धों का उल्लेख किया और गहन जाँच की माँग को दोहराया (प्रसाद : 1949,79)।

तिनकठिया की समस्या को स्थानीय प्रेस और समाचार पत्रों में भी जगह मिली। 1912 के करीब, माहेश्वरी प्रसाद द्वारा 'द प्लांटर्स एंड रैयत्स' शीर्षक वाले लेखों की एक शृंखला सम्पादित की गयी (द बिहारी, दिनांक 11-13, 15, 28 सितम्बर, 1912)। कानपुर के प्रताप ने नील शोषण पर लेखों की एक शृंखला को इतना प्रकाशित किया कि 'चम्पारण के यूरोपीय नील प्लांटर्स का शोषण' (अप्रेशन ऑफ द यूरोपियन इंडिगो प्लान्टर्स ऑफ चम्पारण) नामक पुस्तक लिखी जा सकी (मिश्रा : 1963, 299)।

II

इसी पृष्ठभूमि में महात्मा गाँधी ने चम्पारण में हस्तक्षेप किया। बिहार के रैयत प्रतिनिधियों की एक मजबूत टुकड़ी, जिसमें राजकुमार शुक्ला, सन्त राउत, बीर मुहम्मद मुनीस, हरबंस सहाय, गणेश राम आदि शामिल थे, 1916 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन में भाग लेने के लिए लखनऊ गये। उनकी नजर सबसे पहले तिलक और मदन मोहन मालवीय पर पड़ी, लेकिन वे राष्ट्रीय महत्व की चीजों से बहुत ज्यादा प्रभावित थे।

यद्यपि, मदन मोहन मालवीय ने रैयत के प्रतिनिधियों को गाँधी से सम्पर्क करने का सुझाव दिया। गाँधी ने कुछ हिचकिचाहट के साथ चम्पारण आना स्वीकार किया।

गाँधी को पहले उम्मीद थी कि उत्तर बिहार में उनका प्रवास कम रहेगा; लेकिन चम्पारण पहुँचने से पहले ही वह स्थिति की गम्भीरता को समझ गये। चम्पारण के लिए ट्रेन में सवार होने से पहले, उन्होंने मगनलाल गाँधी को लिखा कि "यहाँ की स्थिति मेरी कल्पना से कहीं अधिक गम्भीर है। यह फिजी और नेटाल की तुलना में अधिक खराब लगता है" (सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय खण्ड 13, 365)।

दूसरी ओर, गाँधी के चम्पारण पहुँचने से पहले ही उनके अनुमानित आगमन की खबर से जिला प्रशासन परेशान था। चम्पारण के पुलिस अधीक्षक ने अपने वरिष्ठों से पूछताछ की कि जल्दी ही उन्हें बताया जाये कि गाँधी की राजनीतिक रूप से स्थिति क्या थी (मिश्रा : 1963, 593)। उनके साथ कैसे निपटा जाये? उन्होंने गाँधी के आगमन को 'अवांछनीय' माना जिससे 'गम्भीर संकट' पैदा होने की सम्भावना थी। चम्पारण तब 'बहुत ही ज्वलनशील अवस्था में' था और वे शायद आसानी से चिंगारी का काम कर सकते थे। पुलिस अधीक्षक को जवाब मिला कि सरकार से इस मामले में सलाह ली जा रही है और चूंकि गाँधी के अनुयायियों की संख्या बहुत है अत: बहुत सावधानी बरती जाये। तिरहुत डिवीजन के कमिश्नर एल.एफ. मॉर्सहेड ने जिलाधिकारी, चम्पारण को लिखा की गाँधी के साथ उनके साक्षात्कार के बाद से उनका मानना है कि गाँधी का उद्देश्य आन्दोलन है (मिश्रा : 1963, 56-7)। इसलिये कमिश्नर ने जिलाधिकारी को निर्देश दिया कि जनता में शान्ति भंग करने की आशंका को ध्यान में रखकर गाँधी को जिले से बाहर जाने का आदेश दिया जाये। यहीं से चम्पारण सत्याग्रह की नींव पड़ी।

गाँधी एवं एल.एफ. मॉर्सहेड (कमिश्नर, तिरहुत डिवीजन) के बीच पत्राचार हुआ। 12 अप्रैल, 1917 को उन्होंने मॉर्सहेड को एक पत्र लिखा, "नील की खेती से सम्बन्धित काम करने वाले भारतीयों की अवस्था के बारे में मैंने बहुत कुछ सुना है, और इसीलिये, जहाँ तक सम्भव हो वास्तविक स्थिति की जानकारी स्वयं ही प्राप्त करने के लिए मैं यहाँ आया हूँ। मैं अपना काम स्थानीय प्रशासन की जानकारी में और सम्भव हो तो उनके सहयोग से करना चाहूँगा" (सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय खण्ड 13, 363)। गाँधी किसी निष्कर्ष पर पहुँचने से पहले जाँच चाहते थे। 13 अप्रैल, 1917 को मॉर्सहेड को लिखे पत्र में उन्होंने फिर से उल्लेख किया, "मैं कदाचित आपको अपने कार्य का यथार्थ स्वरूप नहीं समझा सका हूँ, इसलिये उसे यहाँ फिर बताता हूँ। मुझे मेरे विभिन्न मित्रों ने नील-सम्बन्धी मामलों के बारे में जो कुछ बताया है, मैं उसकी सच्चाई की जाँच करने के लिए उत्सुक हूँ और स्वत: जानना चाहता हूँ कि मैं कोई उपयोगी सहायता दे सकता हूँ या नहीं। मेरा कार्य सम्मानपूर्ण समझौता कराना है" (सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय खण्ड 13, 364)।

गाँधी 15 अप्रैल को मोतिहारी पहुँचे। उनको धारा 144 के तहत नोटिस दिया गया। 16 अप्रैल 1917 को, उन्होंने मोतिहारी के जिला मजिस्ट्रेट को एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने

अपने इरादे का बहुत स्पष्ट उल्लेख किया, "भारतीय दण्ड विधान की धारा 144 के अन्तर्गत मुझ पर अभी जो हुक्म तामील हुआ है, उसके सम्बन्ध में मेरा निवेदन है कि आपको वह हुक्म जारी करने की जरूरत महसूस हुई, इसका मुझे दुःख है... सार्वजनिक दायित्व को समझते हुए मैं यह कहना अपना कर्तव्य समझता हूँ कि मैं इस जिले से नहीं जा सकता; किन्तु यदि अधिकारी चाहते हैं तो मैं इस हुक्म की उदूली की सजा भुगत लूँगा" (सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय खण्ड 13, 368-69)।

गाँधी को दिये गये नोटिस की खबर जिले में जंगल में आग की तरह फैल गयी। मोतिहारी में 'अभूतपूर्व दृश्य' देखा गया। 18 अप्रैल, 1917 को गाँधी को मोतिहारी जिला मजिस्ट्रेट की अदालत में पेश किया गया। उन्होंने वहाँ एक बयान पढ़ा और जब उनसे कहा गया कि सफाई पेश करें, तो इस आशंका से कि ऐसा करने से मामला काफी खिंच जायेगा, उन्होंने अपना अपराध स्वीकार कर लिया। अपने बयान में उन्होंने कहा -

"मैं इस प्रान्त में मानव जाति और राष्ट्र की सेवा करने के इरादे से प्रविष्ट हुआ हूँ। मुझे यहाँ आने और रैयत की सहायता करने का जो आग्रहपूर्ण आमन्त्रण भेजा गया था उसी को स्वीकार कर यहाँ आया हूँ... मामले को पूरी तौर पर समझे बिना मेरे लिये उनकी किसी प्रकार की सहायता करना असम्भव था।... परन्तु प्रशासन का ख्याल कुछ और है। मैं उनकी कठिनाई को बखूबी समझ रहा हूँ और यह भी स्वीकार करता हूँ कि प्राप्त जानकारी के आधार पर कार्यवाही करने के अलावा उनके सामने कोई और रास्ता नहीं है। कानून की पाबन्दी करने वाले नागरिक की हैसियत से... हुक्म की तामील करूँ। मैं उनकी तामील जिन लोगों की खातिर मैं यहाँ आया हूँ उनके प्रति अपनी कर्तव्य भावना का हनन किये बिना नहीं रह सकता था।... मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि हम लोग पेचीदगी भरे हुए जिस विधान के अन्तर्गत रहते हैं उस विधान में स्वाभिमानी व्यक्ति के लिए मेरे जैसी परिस्थिति में सही और सम्मानास्पद केवल एक ही मार्ग रह जाता है, अर्थात् हुक्म-उदूली की सजा विरोध किये बिना सहना; और यही मैंने स्वीकार किया है। मैंने इस वक्तव्य को देने का साहस, जो सजा मुझे दी जानेवाली है उस में किसी प्रकार की रियायत कराने की इच्छा से नहीं बल्कि यह जताने के लिए किया है कि जो हुक्म मुझे दिया गया था उसे न मानने का कारण सरकार के प्रति आदर भाव में कमी नहीं बल्कि अपने जीवन के उच्चतर विधान - अन्तरात्मा के आदेश का पालन था" (सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय खण्ड 13, 376-378)।

III

इस प्रकार गाँधी एक नागरिक के रूप में कानून का पालन भी करते हैं साथ ही नैतिक आधार पर कानून तोड़ने का तर्क भी प्रस्तुत करते हैं। सतही स्तर पर यह एक विरोधाभास जैसा दिखता है परन्तु इसकी गहराई में कई अन्य तर्क हैं। इसे समझने हेतु हिन्द स्वराज के एक पाठ का उल्लेख अनिवार्य है, जिसमें वे 'मानव निर्मित कानून' और 'उच्चतर कानून' के बीच भेद करते हैं (गाँधी : 2010, 62)। उनकी दृष्टि में मानव निर्मित कानून राज्य

का कानून है तो उच्चतर कानून नैतिक कानून को दर्शाता है। हिन्द स्वराज में गाँधी ने राजनीतिक आज्ञापालन की आधुनिक राजनीतिक अवधारणा को चुनौती दी और तर्क दिया कि राज्य के अन्यायपूर्ण कानून का पालन व्यक्ति की 'मर्दानगी' एवं उसके 'धर्म' के विरुद्ध है (गाँधी : 2010, 62)। उनका यह भी तर्क है कि जो सिर्फ ईश्वर से डरते हैं उन लोगों के लिए मानव निर्मित कानून का पालन बाध्यकारी नहीं है।

गाँधी के इन विचारों से हमें 'प्राकृतिक कानून' के सिद्धान्त की याद आती है जिसका लम्बा इतिहास रहा है। प्राकृतिक कानून के विचार को अलग-अलग समय में अलग-अलग रूप में रखा गया, जिसे सिसरो (106 ई.पू.-43 ई.पू.) द्वारा संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है -

> वास्तव में एक वास्तविक कानून है - अर्थात सही कारण - जो प्रकृति के अनुसार है - जो सभी मनुष्यों पर लागू होता है और अपरिर्वनीय एवं शाश्वत है। इसकी आज्ञा से यह मनुष्यों को अपने कर्तव्यों के निर्वहन के लिए बाध्य करता है और इसके निषेध से यह गलत कार्य करने से रोकता है। लेकिन यह कानून अपरिवर्तनीय एवं शाश्वत होगा।... इन कानूनों के लेखक भगवान है जो कि मनुष्यों के शासक एवं गुरु है... और जो मनुष्य इसका पालन नहीं करेगा वह अपने बेहतर स्व को त्याग देगा, और मनुष्य के वास्तविक स्वरूप को नकार देगा (सिसरो 1929 : 33)।

यह प्राकृतिक कानून की 'सार्वभौमिकता' और 'अपरिवर्तनीयता' को रेखांकित करता है। यह एक उच्च कानून के रूप में उपस्थित है और तर्कसम्मत खोज है। गाँधी ने सिसरो के समान लिखा -

> ...ब्रह्माण्ड में एक क्रमबद्धता है और एक अटल कानून है जो कि हर चीज जो अस्तित्व में है अथवा जीवित है को नियन्त्रित करता है। यह अन्धा कानून नहीं है; अन्धे कानून के द्वारा जीवित प्राणियों के आचरण को नियन्त्रित नहीं किया जा सकता।... फिर वह कानून जो सारे जीवन को नियन्त्रित करता है - वह है ईश्वर। कानून और कानून देने वाले एक हैं। मैं कानून या कानून देने वाले को नकार नहीं कर सकता, क्योंकि मैं इसके या उसके बारे में बहुत कम जानता हूँ (सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय खण्ड 43, 95-6)।

गाँधी द्वारा प्रस्तुत इस 'अपरिवर्तनीय नियम' के विचार को प्राकृतिक कानून के सिद्धान्त की विशेष व्याख्या या प्राकृतिक कानून के सिद्धान्त में उनके हस्तक्षेप अथवा योगदान के रूप में देखा जा सकता है। वास्तव में, प्राकृतिक कानून की उनकी व्याख्या गतिशील और सकारात्मक है जो न केवल व्यक्ति के लिए कुछ कृत्यों को खारिज करती है, बल्कि एक विशेष दृष्टिकोण, सक्रिय अहिंसा या प्रेम के दृष्टिकोण को भी प्रोत्साहित करती है। गाँधी की यह समझ उनके तत्वमीमांसा में निहित है जो 'सभी मनुष्यों के परस्पर सम्बन्ध' एवं 'मानव की भूलभूत अच्छाई' (अय्यर 2007, 96) को दर्शाता है। यही वह विशेष दृष्टिकोण है जिसने गाँधी को राज्य के अन्यायपूर्ण कानून के खिलाफ सत्याग्रह करने के लिए

प्रेरित किया, अगर वह स्वयं के विवेक के खिलाफ जाता है। गाँधी स्वयं के इस विवेक को 'अन्तरात्मा की आवाज' के रूप में परिभाषित करते हैं।

गाँधी के लेखन से स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में, जैसा की बाद में यंग इंडिया में 15 दिसम्बर, 1924 को उन्होंने लिखा, "राज्य का अन्यायपूर्ण कानून हिंसा की एक प्रजाति है", और इस तरह के अन्यायपूर्ण कानून के लिए उनका जवाब था कि "न्याय की अदालतों की तुलना में एक उच्च न्यायालय है और यह अन्तरात्मा की अदालत है। यह अन्य सभी न्यायालयों को अधिगृहित करता है" (गाँधी 1949, 150)।

यह पूछा जा सकता है; गाँधी राज्य के अन्यायपूर्ण कानून के बारे में क्या कहते हैं एवं गाँधी किस आधार पर उच्चतर कानून के नाम पर राज्य के अन्यायपूर्ण कानून को तोड़ने कि वकालत करते हैं? इन सवालों का उत्तर जानने के लिए, गाँधी के दो उद्धरण - जो उनकी पुस्तक 'दक्षिण आफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास' और 'हिन्द स्वराज' में है - का उल्लेख किया जा सकता है।

दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास में उन्होंने लिखा, "...कोई कानून हो या न हो, किसी भी स्थिति में सरकार हमारी सहायता और सहयोग के बिना हम पर कभी अंकुश नहीं रख सकती। कानून का अर्थ ही है कि सरकार जो अंकुश हम पर लगाना चाहती है और उसे हम न स्वीकार करें, तो हम सजा के पात्र माने जाते हैं और सामान्यत: यह होता है कि सजा के डर से मानव प्राणी अंकुश के वश में हो जाता है। परन्तु सत्याग्रही इस सामान्य नियम का उल्लंघन करता है। यदि वह अंकुश के अधीन होता भी है तो कानून की सजा के डर से नहीं, परन्तु यह समझ कर स्वेच्छा से ऐसा करता है कि सरकारी अंकुश को मानने में लोक कल्याण है" (गाँधी 1968, 181)।

हिन्द स्वराज में, गाँधी अधिक स्पष्ट हैं कि क्यों और कैसे किसी को राज्य के अन्यायपूर्ण कानून की अवहेलना करनी चाहिए, यदि वह स्वयं के विवेक के विरुद्ध है। उनके शब्दों में -

"हमें अच्छे या बुरे कानून को मानना चाहिये, ऐसा अर्थ तो आजकल का है। पहले ऐसा नहीं था। तब चाहे जिस कानून को लोग तोड़ते थे और उसकी सजा भोगते थे। कानून हमें पसन्द न हों तो भी उनके मुताबिक चलना चाहिये, यह सीख मर्दानगी के खिलाफ है, धर्म के खिलाफ है और गुलामी की हद है। सरकार तो कहेगी कि हम उसके सामने नंगे होकर नाचें। तो क्या हम नाचेंगे? अगर मैं सत्याग्रही होऊँ तो सरकार से कहूँगा - "यह कानून आप अपने घर में रखिये। मैं न तो आपके सामने नंगा होने वाला हूँ और न नाचने वाला हूँ। लेकिन हम ऐसे असत्याग्रही हो गये हैं कि सरकार के जुल्म के सामने झुककर नंगे होकर नाचने से भी ज्यादा नीच काम करते हैं। जिस आदमी में सच्ची इन्सानियत है, जो खुदा से ही डरता है, वह और किसी से नहीं डरेगा। दूसरे के बनाये हुए कानून उसके लिए बन्धनकारक नहीं होते। बेचारी सरकार भी नहीं कहती कि 'तुम्हें ऐसा करना ही पड़ेगा'। वह कहती है कि 'तुम ऐसा नहीं करोगे तो तुम्हें सजा होगी'। हम अपनी अधम दशा के कारण मान लेते हैं कि हमें 'ऐसा

ही करना चाहिये', यह हमारा फर्ज है, यह हमारा धर्म है। अगर लोग एक बार सीख लें कि जो कानून हमें अन्यायी मालूम हो उसे मानना नामर्दगी है, तो हमें किसी का भी जुल्म बाँध नहीं सकता। यही स्वराज्य की कुंजी है" (गाँधी 2010, 62-63)।

ये दो उद्धरण इस बात की पुष्टि करते हैं कि गाँधी राज्य के उन कानून को तोड़ने का समर्थन करते हैं, जिसे वह अनुचित मानते हैं। राज्य के कानून को अस्वीकार करने का आधार उच्चतर कानून तथा धर्म अर्थात् कर्तव्य है। इस प्रकार, गाँधी, सिसरो (106 ई.पू. - 43 ई.पू.), ऑगस्टीन (354-430), एक्विनास (1225-1274) और मार्टिन लूथर किंग (1929-1968) की तरह सविनय अवज्ञा के 'नैतिक औचित्य' और 'उच्च कानून के औचित्य' प्रस्तुत करते हैं। यह पूछा जा सकता है कि उच्चतर कानून के नाम पर कानून का उल्लंघन करने का क्या मतलब है? जवाब सत्याग्रह के मूल सिद्धान्त से आता है जो 'प्रेम के नियम' पर बल देता है। जैसा कि ऊपर देखा गया, गाँधी का मत है कि सत्याग्रही कानून का पालन इसलिये नहीं करते क्योंकि उन्हें सजा का डर है बल्कि इसलिये की वे कानून को सामाजिक कल्याण के लिए अच्छा मानते हैं। सत्याग्रह का सौन्दर्य इस तथ्य में निहित है कि यदि कानून अन्यायपूर्ण है तो उसे तोड़ा जा सकता है और दण्ड सत्याग्रहियों द्वारा स्वीकार किया जाता है। वास्तव में अवज्ञा का यह राजनीतिक दर्शन स्वयं सत्याग्रही की कानून को स्वीकार करने के मूलभूत प्रवृत्ति में निहित है। जैसा कि गाँधी ने यंग इन्डिया में 5 नवम्बर, 1919 को लिखा, "केवल वही जिसने कानून का पालन करने की कला में महारत हासिल की है, कानून की अवज्ञा की कला जानता है"। सत्याग्रह के सम्बन्ध में यह विमर्श हमें दो महत्वपूर्ण निष्कर्षों तक पहुँचने के लिए प्रेरित करते हैं। सबसे पहले, कानून और संवैधानिक राज्य के ढाँचे में गाँधी का सत्याग्रह 'कोएर्सिव' राज्य की वैधता को स्वीकार करता है और दूसरा, सविनय अवज्ञा के रूप में सत्याग्रह का औचित्य कानूनी व्यवस्था के बाहर है जो उच्चतर कानून के आधार पर एवं नैतिक आधार पर व्यवस्था को चुनौती देता है।

वस्तुत: गाँधी के अवज्ञा के नीतिशास्त्र को उनके अहिंसा के समग्र दर्शन से अलग कर नहीं देखा जा सकता। गाँधी का तर्क है कि समाज में हमेशा एक कानून मौजूद है, जिसे वह 'अहिंसा का कानून' कहते हैं। सामाजिक जीवन में यह समाज को उसी तरह से नियन्त्रित करता है जैसे गुरुत्वाकर्षण बल काम करता है चाहे हम इसे जानते हों या नहीं। गाँधी एक सामाजिक-राजनीतिक स्थिति की कल्पना भी करते हैं जहाँ कानून अथवा कानूनी प्रणाली के बिना ही राज्य होगा जिसे उन्होंने 'राम राज्य' कहा। यह अवस्था व्यक्ति की 'नैतिक सम्प्रभुता' पर आधारित होगी तथा यह अहिंसा के नियम अथवा कानून द्वारा संचालित होगी। गाँधी, सिसरो, एक्विनास और ऑगस्टाइन की तरह जगत में प्राकृतिक कानून की उपस्थिति में विश्वास करते थे, जिसे उन्होंने 'सत्य' कहा था, जो 'सम्प्रभु सिद्धान्त है जिसमें कई अन्य सिद्धान्त शामिल हैं' (प्रभु और राव 2002, 42)। यह सत्य है जो 'कानून और कानूनदाता' है। गाँधी ने तर्क दिया कि मानव में उस सत्य की 'चिंगारी' है और वह मानव के हृदय में रहता है और कोई भी उसे अपने आप में महसूस कर सकता है। उनकी दृष्टि में, अहिंसा का नियम

सत्य नामक सम्प्रभु सिद्धान्त को साकार करने का एक साधन है। इस प्रकार, गाँधी के विचार में कानून, नैतिकता और धर्म (कर्तव्य के रूप में) की अवधारणा अलग-अलग कर नहीं देखे जा सकते और वे एक साथ मिलकर काम करते हैं। इसी दार्शनिक पृष्ठभूमि में गाँधी ने अवज्ञा के अपने नीतिशास्त्र को प्रस्तुत किया। जैसा कि हमने देखा, सविनय अवज्ञा कानून को तोड़ने से सम्बन्धित है जो सार्वजनिक होना चाहिए। परन्तु, महत्वपूर्ण प्रश्न यह है; सविनय अवज्ञा में हिंसा का सहारा लेना चाहिए या नहीं। कुछ लोग मानते हैं कि सविनय अवज्ञा हिंसक हो सकती है लेकिन गाँधी के लिए सविनय अवज्ञा एक सार्वजनिक विरोध है जो किसी भी स्थिति में अहिंसक होना चाहिए।

प्रश्न है; सविनय अवज्ञा में हिंसा को क्यों खारिज किया जाना चाहिए और क्यों अहिंसा का ही उपयोग किया जाना चाहिए? गाँधी इस प्रश्न का उत्तर देते हैं और उनके जवाब से उनके सविनय अवज्ञा का नीतिशास्त्र और भी स्पष्ट होता है। सबसे पहले, गाँधी ने इस आधार पर हिंसा को खारिज कर दिया कि "शरीर बल का उपयोग करना, गोला-बारूद काम में लाना, हमारे सत्याग्रह के कानून के खिलाफ है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि हमें जो पसन्द है वह दूसरे आदमी से हम (जबरन) करवाना चाहते हैं। अगर यह सही हो तो फिर वह सामने वाला आदमी भी अपनी पसन्द का काम हमसे करवाने के लिए हम पर गोला-बारूद चलाने का हकदार है। इस तरह तो हम कभी एक राय पर पहुँचेंगे ही नहीं। कोल्हू के बैल की तरह आँखों पर पट्टी बाँधकर भले ही हम मान लें कि हम आगे बढ़ते हैं। लेकिन दरअसल तो बैल की तरह हम गोल-गोल चक्कर ही काटते रहते हैं। जो लोग ऐसा मानते हैं कि जो कानून खुद को नापसन्द है उसे मानने के लिए आदमी बँधा हुआ नहीं है, उन्हें तो सत्याग्रह को ही सही साधन मानना चाहिये, वरना बड़ा विकट नतीजा आयेगा" (गाँधी, 2010, 63)।

वास्तव में, सविनय अवज्ञा में हिंसा या अहिंसा का उपयोग लक्ष्य को प्राप्त करने के साधनों का एक बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न लाता है। यदि सविनय अवज्ञा का लक्ष्य प्राकृतिक कानून के उच्च कानून या सिद्धान्त के आधार पर होता है, तो समान मानदण्डों के आधार पर ही विचार किया जा सकता है। प्राकृतिक कानून का उच्चतर कानून या सिद्धान्त यह बताता है कि सामाजिक या राजनीतिक परिवर्तन को प्रभावित करने के लिए उचित साधन का उपयोग अनिवार्य है, इसी आधार पर गाँधी का तर्क है कि उच्च लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अहिंसा, जो एक उच्च मूल्य है, को एक साधन के रूप में इस्तेमाल किया जाना चाहिए। उन्होंने लिखा, "मैंने आत्म-बलिदान के प्राचीन नियम को सामने लाने का प्रयास किया है। सत्याग्रह और इसके ऑफ-शूट, असहयोग और सविनय अवज्ञा, कष्ट सहन के नियम के अलावा कुछ भी नहीं है" (प्रभु और राव 2002, 27)। उन्होंने तर्क दिया कि 'अहिंसा हमारे अस्तित्व का नियम है'। उन्होंने लिखा कि "अपनी गतिशील स्थिति में अहिंसा का अर्थ है - सचेत कष्ट सहन। यह बुराई करने वाले के सामने नहीं झुकता बल्कि अत्याचार करने वाले के खिलाफ अपनी पूरी आत्मा लगा देता है। हमारे अस्तित्व के इस कानून के तहत काम करते हुए यह सम्भव है एक व्यक्ति भी अपने सम्मान, अपने धर्म, अपनी आत्मा को बचाने के लिए

एक अन्यायी साम्राज्य की पूरी ताकत को धता बता दे और उस साम्राज्य के पतन या उसके उत्थान के लिए नींव रखे" (प्रभु और राव 2002, 27)। गाँधी की दृष्टि में अहिंसा एक नियम है परन्तु यह एक ताकत भी है क्योंकि यह अन्यायपूर्ण साम्राज्य को चुनौती दे सकता है। जैसा कि, नमक सत्याग्रह (1930) से पहले इरविन को लिखे अपने पत्र में गाँधी ने लिखा, "बहुत से लोग सोचते हैं कि अहिंसा एक सक्रिय शक्ति नहीं है। मेरा अनुभव - हालांकि यह निस्सन्देह सीमित है - यह दर्शाता है कि अहिंसा एक तीव्र सक्रिय शक्ति हो सकती है" (सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय खण्ड 43, 6)।

अपरिहार्य रूप से यह हमें गाँधी के सविनय अवज्ञा में 'अहिंसा के बल' और 'कानून' के बीच के सम्बन्ध का पता लगाने के लिए आमन्त्रित करता है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख करना महत्वपूर्ण है कि कानून बल से सीधे जुड़ा हुआ है। कोई कानून सम्भव नहीं है, अगर इसे सम्भावित रूप से बल से लागू नहीं कराया जा सकता है। पुलिस, सेना और जेल कानून के उल्लंघन और दण्डित करने के लिये है। यहाँ प्रश्न यह है; सविनय अवज्ञा कैसे राज्य द्वारा समर्थित कानून के बल (गाँधी के अनुसार क्रूर बल) से निपटने के लिए अहिंसा के बल का उपयोग करती है? गाँधी इसका उदाहरण देते हुए कहते हैं, "मिसाल के तौर पर, मुझ पर लागू होने वाला कोई कानून सरकार ने पास किया। वह कानून मुझे पसन्द नहीं है। अब अगर मैं सरकार पर हमला करके यह कानून रद्द करवाता हूँ, तो कहा जायगा कि मैंने शरीर बल का उपयोग किया। अगर मैं उस कानून को मंजूर ही न करूँ और उस कारण से होने वाली सजा भुगत लूँ, तो कहा जायगा कि मैंने आत्मबल का सत्याग्रह से काम लिया। सत्याग्रह में मैं अपना ही बलिदान देता हूँ" (गाँधी, 2010, पृ. 61)।

यहाँ 'बल' और 'हिंसा' के बीच अन्तर का उल्लेख करना अनिवार्य है। गाँधी दोनों के बीच अन्तर स्पष्ट करते हैं। सबसे पहले, उनके अनुसार, हथियारों का बल हिंसा का बल है और दूसरा है आत्मा या प्रेम का बल जिसे वे अहिंसा या सत्याग्रह का बल कहते हैं। यह ध्यान दिया जा सकता है, गाँधी ने बल के महत्व को अस्वीकार नहीं किया, लेकिन यह बल का 'प्रकार' था, जो उनके लिए महत्वपूर्ण था। फिर, गाँधी ने किस प्रकार का बल सुझाया? बल को परिभाषित करने की कोशिश करते हुए, गाँधी ने लिखा, "अगर आप नहीं देंगे तो हम आपको मारेंगे। यह गोला बारूद का बल है। इसका बुरा नतीजा हम देख चुके। दूसरा बल यह है - अगर आप नहीं देंगे तो हम आपके अरजदार नहीं रहेंगे। हम अरजदार होंगे तो आप बादशाह बने रहेंगे। हम आपके साथ कोई व्यवहार नहीं रखेंगे। इस बल को चाहे दया बल कहें, चाहे आत्मबल कहें या सत्याग्रह कहें। यह बल अविनाशी है और इस बल का उपयोग करने वाला अपनी हालत को बराबर समझता है। इसका समावेश हमारे बुजुर्गो ने 'एक नाही सब रोगों की दवा' में किया है। यह बल जिसमें है उसका हथियार बल कुछ नहीं बिगाड़ सकता" (गाँधी 2010, 57-58)।

इस प्रकार, गाँधी आत्मबल या सत्यबल के साथ उच्च कानून के आधार पर कष्ट सहन द्वारा मानव निर्मित कानून/राज्य के कानून को तोड़ने के लिए कहते हैं और यही उनके सविनय अवज्ञा का नैतिक आधार है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

अय्यर राघवन, एन. (2007) *मोरल एन्ड पोलिटीकल थाट ऑफ महात्मा गाँधी,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली.

गाँधी, मो.क., (1968) *दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास,* नवजीवन, अहमदाबाद.

गाँधी, मो.क., (2010) *हिन्द स्वराज,* नवजीवन, अहमदाबाद.

तेन्दुलकर, डी.जी., (1957) *गाँधी इन चम्पारण,* प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार, दिल्ली.

द कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी, अंक 1-98, प्रकाशन विभाग सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार, दिल्ली.

प्रभु, आर.के. एवं यू.आर. राव, (2002) *द माइन्ड ऑफ महात्मा गाँधी,* नवजीवन, अहमदाबाद.

प्रसाद, राजेन्द्र, (1949) *सत्याग्रह इन चम्पारण,* नवजीवन, अहमदाबाद.

बकलेन्ड. सी.ई., (1901) *बंगाल अन्डर लेफ्टिनेन्ट गवर्नर्स,* अंक 1, एस.के. लाहरी एन्ड सन्स, कलकत्ता.

बोंडुरेंट, जे.वी. (1954) *कनक्वेस्ट ऑफ वॉयलेन्स,* प्रिन्सटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिन्सटन.

मिश्रा, बी.बी., (सं.) (1963) *सिलेक्ट डॉक्यूमेंटस ऑन महात्मा गाँधीज मूवमेंट इन चम्पारण 1917-1918,* बिहार सरकार, पटना.

शार्प, जीन, (1960) *गाँधी बिल्ड्स द वेपन ऑफ मोरल पॉवर,* नवजीवन, अहमदाबाद.

सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय - अंक 13 एवं 43, दिल्ली : प्रकाशन विभाग सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार

सिसरो (1929) *डी रिपब्लिका* (अनुवादक - जी.एच. सबीन एवं एस.बी. स्मिथ, कोलम्बस), ओहियो : ओहियो स्टेट यूनिवर्सिटी प्रेस.

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 18, संयुक्तांक, जनवरी-दिसम्बर 2020, पृ. 52-67)

ग्रामीण महिलाओं के सामाजिक एवं आर्थिक समावेशीकरण में राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन की भूमिका का तुलनात्मक अध्ययन : अमरावती जिले के विशेष संदर्भ में

सन्दीप जोशी* एवं अमित तिवारी†

भारत में महिलाओं की स्थिति को लेकर अनेक बदलाव दृष्टिगोचर होते रहे हैं। देश में विभिन्न सरकारों ने भी महिलाओं के मुद्दों को गम्भीरता से लेकर अनेक कार्य किये एवं योजनाओं को मूर्तरूप प्रदान किया। इसी कड़ी में भारत सरकार द्वारा ग्रामीण महिलाओं के विकास हेतु विभिन्न कार्यक्रम एवं योजनाओं को प्रारम्भ किया। इन्ही प्रयासों की दिशा में ग्रामीण विकास मंत्रालय द्वारा संचालित राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन महिला सशक्तिकरण की दिशा मे एक महत्वपूर्ण कार्यक्रम है। इस योजना के तहत महिलाओं को स्वावलम्बी और आत्मनिर्भर बनाने में स्व-सहायता समूह अहम भूमिका निभा रहे हैं। ग्रामीण महिलाएं इन समूहों से जुड़कर न केवल आर्थिक रुप से सशक्त हो रही हैं, अपितु उनमें स्वावलम्बन की प्रवृत्ति भी बढ़ी है। स्व-सहायता समूह कार्यक्रम ग्रामीण अर्थव्यवस्था का अभिन्न अंग बनकर ग्रामीण महिलाओं के लिये

*प्रोफेसर, म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, उज्जैन (म.प्र.)
E-mail: rishinagar@yahoo.co.uk
†शोध अधिकारी, म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, उज्जैन (म.प्र.)
E-mail: ujjamit@gmail.com

वरदान साबित हो रहा है। इस कार्यक्रम की वजह से महिलाओं की स्थिति एवं दशा में सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टिकोण से क्रान्तिकारी परिवर्तन हुये हैं। स्व-सहायता समूह के द्वारा लघु वित्त प्राप्त कर महिलाएँ गरीबी, बेरोजगारी एवं निरक्षरता के चक्रव्यूह से निकलकर सशक्तिकरण की दिशा में कदम बढ़ा रही हैं।

भारत में महिलाओं की स्थिति को लेकर अनेक बदलाव दृष्टिगोचर होते रहे हैं। प्राचीन काल में पुरुषों के साथ समानता की स्थिति से लेकर मध्ययुग के निम्नस्तरीय जीवन और कालान्तर में अनेक समाज सुधारकों द्वारा महिलाओं हेतु समान अधिकारों को बढ़ावा दिए जाने तक, भारत में महिलाओं की स्थिति में परिवर्तनों का इतिहास काफी गतिशील रहा है। स्वतंत्रता के बाद से ही भारत की ग्रामीण आबादी विकास के नवीन आयामों की प्रतीक्षा करती रही। मुख्यत: रूढ़िवादी व्यवस्था में महिलाओं को कमजोर माना गया तथा उनके विकास को सामाजिक बन्धनों में बांधकर रख दिया गया। महिलाओं को ऐसी व्यवस्था के चलते शिक्षा से वंचित रखा गया तथा लैंगिक विभेद के कारण वे समान सामाजिक-आर्थिक स्थिति एवं अधिकारों से वंचित ही रहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि ग्रामीण महिलाओं में शिक्षा की कमी तथा गरीबी का दायरा विस्तृत होता गया। ग्रामीण महिलाएँ पूर्ण रूप से पुरुषों की आय पर निर्भर रहीं फलस्वरूप उनमें आत्मविश्वास की कमी आ गई। महिलाएँ केवल घरो में रसोई तथा बच्चों की देखरेख के कार्य तक ही सीमित रह गई तथा रोजगार स्वरुप केवल खेतिहर मजदूर के रूप में उनकी संलग्नता रही। परिणाम स्वरुप ग्रामीण महिलाओं की आर्थिक और सामाजिक स्थिति निम्न स्तर पर पहुँच गई। भारत जैसे लोकतांतिक देश में स्वभावत: ऐसी स्थिति लम्बे समय तक चलना मुश्किल था क्योंकि महिला पुरूष के अधिकारों को लेकर एक बहुत बडा वर्ग सकारात्मक परिवर्तनों के लिए चिन्तित और विचाररत बना रहा। देश में विभिन्न सरकारों ने भी महिलाओं के मुद्दों को गम्भीरता से लेकर अनेक कार्य किये एवं योजनाओं को मूर्तरूप प्रदान किया।

इसी कड़ी में भारत सरकार द्वारा पिछले कुछ वर्षो में ग्रामीण महिलाओं के विकास हेतु विभिन्न कार्यक्रम एवं योजनाओं को प्रारम्भ किया। महिलाओं के सामाजिक विकास के साथ ही आर्थिक विकास हेतु भी सरकार द्वारा विभिन्न कार्यक्रमों के माध्यम से उन्हें उद्यमिता से जोड़ा गया जिससे महिलाएँ अपना स्वयं का रोजगार स्थापित कर सकें।

वर्तमान समय में सरकार द्वारा आर्थिक विकास पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। सरकारी एवं गैर सरकारी संगठनों द्वारा महिला उद्यमिता विकास के क्षेत्र में कार्य किये जा रहे हैं। इन्ही प्रयासों की दिशा में ग्रामीण विकास मंत्रालय द्वारा संचालित राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन महिला सशक्तिकरण की दिशा में एक महत्वपूर्ण कार्यक्रम है। इस योजना के तहत महिलाओं को स्वावलम्बी और आत्मनिर्भर बनाने में स्व-सहायता समूह अहम भूमिका निभा रहे हैं। ग्रामीण महिलाएं इन समूहों से जुड़कर न केवल आर्थिक रुप से सशक्त हो रही हैं, अपितु उनमें स्वावलम्बन की प्रवृत्ति भी बढ़ी है। स्व-सहायता समूह कार्यक्रम ग्रामीण अर्थव्यवस्था का अभिन्न अंग बनकर ग्रामीण महिलाओं के लिये वरदान साबित हो रहा है। इस

कार्यक्रम की वजह से महिलाओं की स्थिति एवं दशा में सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टिकोण से क्रान्तिकारी परिवर्तन हुये हैं। स्व-सहायता समूह के द्वारा लघु वित्त प्राप्त कर महिलाएँ गरीबी, बेरोजगारी एवं निरक्षरता के चक्रव्यूह से निकलकर सशक्तिकरण की दिशा में कदम बढ़ा रही हैं।

राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन एक परिचय

ग्रामीण क्षेत्रों मे निर्धनता बहुआयामी है। मुख्य रूप से संसाधनों की कमी, सीमित कौशल आधार एवं व्यावसायिक अवसरों की कमी निर्धनता की वृद्धि में महत्वपूर्ण घटक के रूप में कार्य करती है। साथ ही इन कारकों के कारण ग्रामीण क्षेत्रों में खाद्य सुरक्षा, स्वास्थ्य तथा पोषण स्तर प्रभावित होता है। इस दिशा में ग्रामीण विकास मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं के सशक्तिकरण तथा ग्रामीण महिलाओं के समाज में सामाजिक एवं आर्थिक समावेशीकरण की दिशा मे स्वरोजगार सृजन तथा महिलाओं की सामाजिक सहभागिता के उद्देश्य से सीधे निर्धन परिवार को सक्षम बनाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। इस संदर्भ में सन् 1980 में समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (आई.आर.डी.पी.) योजना आरंभ की गई। इस योजना में 1999 में एक वृहद संशोधन एवं सुधार किया गया तथा इसे आई.आर.डी.पी. के स्थान पर स्वर्ण जयंती ग्राम स्वरोजगार योजना (एस.जी.एस.वाय.) के रूप में रूपान्तरित किया गया। एस.जी.एस.वाय. योजना के तहत ग्रामीण निर्धन महिलाओं को संगठित करने तथा स्वरोजगार हेतु प्रेरित कर निर्धनता के स्तर को कम करने का प्रयास किया गया। एस.जी.एस.वाय. में भी कुछ कमियाँ उभरकर आई। मुख्यत: ग्रामीण स्तर पर व्यापक क्षेत्रीय भिन्नताएँ, सामुदायिक संस्थाओं के निर्माण हेतु अपर्याप्त निवेश तथा बैंकों के साथ कमजोर संयोजन तथा अल्पऋण संग्रहण तथा अल्पवित्त पोषण आदि। इन कमियों को दूर करने हेतु 2011 में भारत सरकार ने राष्ट्रीय आजीविका मिशन (एन.आर.एल.एम.) के रूप में एस.जी.एस.वाय. का अनुमोदन किया। एन.आर.एल.एम. का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण महिलाओं हेतु सतत् सामुदायिक संस्थानों की स्थापना करना तथा इसके माध्यम से ग्रामीण निर्धनता को समाप्त कर आजीविका के विविध स्रोतों को प्रोत्साहन प्रदान करना है (www.nrlm.gov.in date-2-2-21 time- 4.23 PM)।

इस योजना के आँकड़ों पर दृष्टिपात करें तो एन.आर.एल.एम. के तहत भारत में कुल 66,46,462 महिला स्वयं सहायता समूह संचालित हैं तथा इन समूहों के माध्यम से कुल 7,27,62,843 महिला सदस्य इस कार्यक्रम से जुड़ी हैं (https://nrlm.gov.in/outerReportAction.do?methodName=showIndex date-17-12-20 time-3:15 PM)। इसी तरह महाराष्ट्र में कुल 4,83,259 समूह संचालित हैं जिसमें कुल 49,78,920 महिला सदस्य जुड़कर मासिक बचत कर रही हैं। अमरावती जिले पर दृष्टिपात करें तो इस जिले में राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन योजना के तहत कुल 19,515 महिला स्वयं सहायता समूह संचालित हैं जिसमें कुल 1,95,015 महिला सदस्य जुड़ी हुई हैं (http://umed.in/date-2-2-21 time- 4.54 PM)

इस शोध पत्र का उद्देश्य स्वयं सहायता समूह से जुड़ी तथा सामान्य महिलाओं की सामान्य पृष्ठभूमि का तुलनात्मक विवेचन करना, स्वयं सहायता समूह में संलग्न तथा गैर संलग्न महिलाओं के सामाजिक एवं आर्थिक समावेशीकरण की स्थिति ज्ञात करना एवं महिला स्व-सहायता समूहों एवं सदस्य महिलाओं के विकास के लिए सुझाव प्रस्तुत करना है।

शोध प्रविधि

यह शोध पत्र प्राथमिक एवं द्वितीयक आँकड़ों के विश्लेषण पर आधारित है। प्राथमिक आंकड़ों के संग्रह हेतु विशेष रूप से तैयार की गई साक्षात्कार अनुसूचियों का उपयोग किया गया है जबकि द्वितीयक आंकडों का संग्रहण संबंधित कार्यालय के अभिलेखों, सरकारी निर्देशों, हैंडबुक, योजना दस्तावेज, प्रगति प्रतिवेदन से किया गया है। अनुसूची का उपयोग मात्रात्मक परिणाम प्राप्त करने तथा शोध में गुणात्मक आंकड़ों से उत्पन्न मुद्दों की पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए किया गया है। इस हेतु महाराष्ट्र राज्य के अमरावती जिले का चयन किया गया है। चयनित अमरावती जिले के 10 विकासखण्डों में से तीन विकासखण्डों का चयन देव निदर्शन पद्धति के आधार पर किया गया है। साथ ही तीन विकासखण्डों से कुल 10 ग्राम पंचायतों का चयन किया गया है। इन 10 ग्राम पंचायतों में से प्रत्येक ग्राम पंचायत से पाँच एन.आर.एल.एम. के स्वयं सहायता समूहों से जुड़ी पाँच महिलाएँ तथा पाँच ग्राम पंचायत क्षेत्र में निवासरत सामान्य महिलाओं का चयन उद्देश्यपूर्ण दैव निदर्शन पद्धति के आधार पर किया गया है। अत: प्रतिचयन का कुल आकार $10 \times 10 = 100$ रहा है।

अध्ययन की उपकल्पना

1. राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन से जुड़ी महिलाओं की सामाजिक समावेशीकरण की स्थिति सामान्य महिलाओं की तुलना में उच्च है।
2. राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन से जुड़ी महिलाओं की आर्थिक समावेशीकरण की स्थिति सामान्य महिलाओं की तुलना में उच्च है।

साहित्य की समीक्षा

हंट, जे एवं एन. कास्थनाथन (2002) ने अपने अध्ययन में स्पष्ट किया है कि स्वयं सहायता समूहों का महिलाओं की सामाजिक सहभागिता पर सकारात्मक प्रभाव पड़ा है। साथ ही महिलाओं को पारिवारिक नेतृत्व करने का भी अवसर प्राप्त हुआ है। लेखक का मत है कि स्वयं सहायता समूहों मे जुड़ने से घरेलू हिंसा तथा महिला अत्याचारों में भी कमी परिलक्षित हुई है।

मेल्कम, हार्पर (2002) ने स्व-सहायता समूह से संबंधित अध्ययन में स्पष्ट किया है कि कि स्व-सहायता समूह 15-20 सदस्यों का समूह होता है जो अपनी सामान्य समस्याओं के लिए समूहबद्ध होते हैं और स्वैच्छिक सहमति से नियमित बचत करते हैं तथा इस बचत से

अपने समूह के सदस्यों की वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। इस तरह सदस्यों में वित्तीय अनुशासन की समझ विकसित होती है। इस प्रक्रिया के द्वारा उनका समूह उन्नत होता है तथा उनका वित्तीय व्यवहार परिपक्व होता है। स्व-सहायता समूह के विकास की इस प्रक्रिया में बैंक बिना किसी प्रतिभूति या साक्ष्य के ऋण देता है समूह के सदस्य इसका उपयोग अपने उद्यम या विकास के लिए करते हैं। स्व-सहायता समूहों के माध्यम से महिलाओं में न केवल आर्थिक स्वावलंबन आता है वरन् नियमित बैठक की वजह से उन्हें एक मंच मिलता है जहां वे अपनी सम्पूर्ण साझा समस्याओं जैसे स्वास्थ्य, शिक्षा, घरेलू हिंसा, मद्यपान और राजनीतिक सहभागिता पर भी चर्चा करती है।

रेड्डी सुदर्शन, जी. (2010) ने अपने अध्ययन में महिला स्वयं सहायता समूहों के बैंक संबंध को एक महत्वपूर्ण आगत बताया है। उपयुक्त अध्ययन मे राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन योजना के तहत निर्मित स्वयंसहायता समूहों से सम्बंधित महिलाओं की आर्थिक स्थिति, राजनीतिक सहभागिता, निर्णय निर्माण में सहभागिता तथा परिवार मे सम्मान आदि बिन्दुओं पर गहनता से अध्ययन किया गया है अध्ययन के निष्कर्ष के रूप में इन सभी बिन्दुओं में स्वयं सहायता समूहों में जुड़ी महिलाओं का सशक्तिकरण का स्तर अधिक उच्च पाया गया है।

त्रिपाठी के.के. एवं सुधीर जैन (2010) ने हरियाणा तथा उड़ीसा राज्य के करनाल एवं जगतसिंहपुर के महिला स्वयं सहायता समूहों के संचालन एवं उपलब्धियों का अध्ययन किया एवं निष्कर्ष के रूप में परिलक्षित हुआ कि स्वयं सहायता समूहों से महिला सशक्तिकरण का पथ तो प्रकाशित हुआ है किन्तु समूहों के संचालन हेतु एकीकृत नीति निर्माण की महती आवश्यकता भी परिलक्षित हुई है।

जोशी संदीप एवं अमित तिवारी (2019) ने ग्रामीण विकास मंत्रालय के तहत उड़ीसा राज्य के सम्बलपुर जिले में की गई नेशनल लेवल मानिटरिंग रिर्पोट में राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन योजना को प्रभावी बनाने हेतु सुझाव प्रस्तुत किये है जिसमें मुख्य रूप से महिलाओं को रोजगारोन्मुखी प्रशिक्षण प्रदान करने की आवश्यकता तथा समूह के वित्तीय प्रबंधन पर महिलाओं की जागरूकता में वृद्धि करने पर ध्यान इंगित किया है।

महिलाओं की सामान्य पृष्ठभूमि

शोध का प्रथम उद्देश्य स्वयं सहायता समूह से जुड़ी तथा सामान्य महिलाओं की सामान्य पृष्ठभूमि का तुलनात्मक विवेचन करना था। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु वर्तमान अध्ययन में सम्मिलित महिलाओं की सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि से, सम्बन्धित तथ्यों का विश्लेषण किया गया है। इस सन्दर्भ में महिलाओं की आयु, शिक्षा, परिवार, का स्वरूप, व्यवसाय तथा आय, आदि से सम्बन्धित तथ्यों की विवेचना की गई।

तालिका 1
महिलाओं की सामान्य पृष्ठभूमि

आयु	समूह की सदस्य महिलाएँ		सामान्य महिलाएँ	
	आवृत्ति	प्रतिशत	आवृत्ति	प्रतिशत
20 वर्ष से कम	06	12.0	07	14.0
20 वर्ष से 40 वर्ष	36	72.0	41	82.0
40 वर्ष से अधिक	8	16.0	2	4.0
योग	50	100.0	50	100.0
शिक्षा	**आवृत्ति**	**प्रतिशत**	**आवृत्ति**	**प्रतिशत**
निरक्षर	01	2.0	08	16.0
साक्षर	05	10.0	12	24.0
प्राथमिक	03	6.0	07	14.0
माध्यमिक	06	12.0	18	36.0
हाईस्कूल	13	26.0	3	6.0
हायर सेकेण्डरी	15	30.0	2	4.0
स्नातक	08	16.0	0	00.0
स्नातकोत्तर	00	00.0	0	00.0
योग	50	100.0	50	100.0
घर का प्रकार	**आवृत्ति**	**प्रतिशत**	**आवृत्ति**	**प्रतिशत**
पक्का	48	96.0	28	56.0
अर्धपक्का	2	4.0	16	32.0
कच्चा	0	0.0	6	12.0
योग	50	100.0	50	100.0

स्रोत : प्राथमिक समंक

महिलाओं की सामान्य स्थिति के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर स्पष्ट है कि शोध में स्वयं सहायता समूह से जुड़ी महिलाओं की आयु वर्ग पर दृष्टिपात करें तो सर्वाधिक 72 प्रतिशत महिलाएँ 20 से 40 वर्ष के आयु समूह से हैं साथ ही सामान्य महिलाओं में भी सर्वाधिक 82 प्रतिशत महिलाएँ इसी आयु वर्ग से ही हैं। यह युवा महिलाओं की विकास में सहभागिता एवं नेतृत्व की प्रगति का द्योतक है।

शिक्षा से सम्बन्धित आँकड़ों पर दृष्टिपात करें तो स्वयं सहायता समूह से सम्बन्धित महिलाओं में सर्वाधिक महिलाएँ हायर सेकेन्डरी स्तर तक शिक्षित हैं तथा समूह से जुड़ी कोई भी महिला निरक्षर नहीं हैं। वहीं सामान्य महिलाओं में सर्वाधिक महिलाएँ माध्यमिक स्तर तक शिक्षित हैं तथा 16 प्रतिशत महिलाएँ निरक्षर हैं।

स्पष्ट है कि स्वयं सहायता समूहों में जुड़ने के पश्चात सर्वप्रथम निरक्षर महिलाओं को साक्षर बनाने का कार्य किया जाता है साथ ही उन्हें मुक्त शिक्षा प्रणाली के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने हेतु प्रोत्साहित किया जाता है जिससे वह समाज में अपनी भूमिका सार्थक रूप से निभा सकें।

महिलाओं की सामाजिक समावेशीकरण की स्थिति

शोध का द्वितीय उद्देश्य स्वयं सहायता समूह से जुड़ी तथा सामान्य महिलाओं की सामाजिक समावेशीकरण की स्थिति का विवेचन करना था। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु अध्ययन में सम्मिलित ग्रामीण महिलाओं के सामाजिक समावेशीकरण के सन्दर्भ में महिलाओं के परिवार में निर्णय लेने में सहभागिता की स्थिति, ग्राम सभा की बैठकों में सहभागिता की स्थिति साथ ही शिक्षा, स्वास्थ्य एवं स्वच्छता सम्बंधी बिन्दुओं पर सजगता की स्थिति आदि से सम्बन्धित तथ्यों की विवेचना की गई।

तालिका 2

सामाजिक समावेशीकरण की स्थिति

क्र.	विवरण	समूह से जुड़ी महिलाएँ	सामान्य महिलाएँ
1.	परिवार में निर्णय लेने मे सहभागिता की स्थिति	30 (60 प्रतिशत)	14 (28 प्रतिशत)
2.	ग्राम सभा की बैठकों में सहभागिता की स्थिति	42 (84 प्रतिशत)	28 (56 प्रतिशत)
3.	महिलाओं से सम्बन्धित योजनाओं की जानकारी की स्थिति	48 (96 प्रतिशत)	17 (34 प्रतिशत)
4.	ग्राम की प्रमुख समस्याओं की जानकारी की स्थिति	31 (62 प्रतिशत)	20 (40 प्रतिशत)
5.	महिला आरक्षण के संदर्भ में जानकारी की स्थिति	39 (78 प्रतिशत)	12 (24 प्रतिशत)
6.	शिक्षा, स्वास्थ्य एवं स्वच्छता सम्बंधी बिन्दुओं पर सजगता की स्थिति	28 (56 प्रतिशत)	07 (14 प्रतिशत)

स्रोत- प्राथमिक समंक

ग्रामीण महिलाओं के सामाजिक समावेशीकरण के सन्दर्भ में महिलाओं के परिवार में निर्णय लेने में सहभागिता की स्थिति में स्वयं सहायता समूहों से जुड़ी 60 प्रतिशत महिलाएँ पारिवारिक निर्णयों में अपनी सहभागिता करती हैं वहीं सामान्य महिलाओं में 28 प्रतिशत महिलाओं द्वारा ही निर्णयों में सहभागिता करती है।

स्वयं सहायता समूहों की महिलाओं को निर्णय निर्माण में अधिक सहभागिता का मुख्य कारण महिलाएँ भी स्वरोजगार एवं की गई बचत द्वारा प्राप्त आय के कारण परिवार में अपनी अहम भूमिका रखती हैं। इस कारण निर्णय निर्माण की प्रक्रिया में वह भी समान भागीदारी निभाती हैं।

ग्राम सभा की बैठकों में सहभागिता की स्थिति पर दृष्टिपात करें तो स्वयं सहायता समूहों से जुड़ी 84 प्रतिशत महिलाएँ ग्राम सभा की बैठकों में सहभागिता करती हैं वहीं सामान्य महिलाओं में इसका प्रतिशत 56 है।

स्वयं सहायता समूहों की महिलाओं में मुख्य रूप से पंच सूत्रों के माध्यम से नियमित बैठक की प्रवृत्ति को विकसित किया जाता है जिससे वह संगठित रूप से अपनी सामाजिक भागीदारी सुनिश्चित कर सकें इस कारण इन महिलाओं में संकोच की प्रवृत्ति नहीं होती, वहीं

सामान्य महिलाओं में सामाजिक रूप से सहभागिता एवं बैठकों में सहभागिता सम्बन्धी संकोच की प्रवृत्ति अधिक परिलक्षित हुई है।

शासन की विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं की जानकारी की स्थिति के सन्दर्भ में प्राप्त आँकड़ों के आधार पर स्वयं सहायता समूहों से जुड़ी 96 प्रतिशत महिलाओं को शासन की विभिन्न योजनाओं की जानकारी है तथा वह अन्य योजनाओं का लाभ भी ले रही हैं वहीं केवल 34 प्रतिशत सामान्य महिलाओं को ही हितग्राहीमूलक योजनाओं की जानकारी है। स्वयं सहायता समूहों के माध्यम से महिलाओं को ग्राम सभा तथा विभिन्न प्रशिक्षणों एवं शासकीय योजनाओं एवं कार्यक्रमों की जानकारी प्राप्त होती है साथ ही विभिन्न शासकीय योजनाओं का सर्वेक्षण कार्य भी स्वयं सहायता समूह की महिलाओं को मानदेय प्रदान कर पूर्ण करवाया जाता है जो कि उनकी जागरुकता के स्तर में वृद्धि करता है।

ग्राम की विभिन्न समस्याओं के सन्दर्भ में जानकारी के स्तर पर स्वयं सहायता समूह से जुड़ी 62 प्रतिशत महिलाओं द्वारा अपनी ग्राम की सामाजिक एवं मूलभूत आवश्यकताओं के अभाव सम्बन्धी समस्याओं से अवगत कराया वही में केवल 40 प्रतिशत सामान्य महिलाएँ इन समस्याओं से अवगत थी। इस सन्दर्भ में की गई समूह चर्चा से स्पष्ट हुआ कि स्वयं सहायता समूहों की महिलाओं में अपनी समस्या खुलकर प्रस्तुत करने की क्षमता विकसित हुई है वहीं इसके विपरीत सामान्य महिला में इस गुण का अभाव है।

महिलाओं को पंचायत राज व्यवस्था के अन्तर्गत प्राप्त आरक्षण की जानकारी समूह से जुड़ी 78 प्रतिशत महिलाओं को थी, वहीं स्वयं सहायता समूहों की सदस्यों में से 8 महिलाएँ वार्ड पंच के रूप में भी निर्वाचित हुई हैं। इसी परिपेक्ष्य में सामान्य महिलाओं में 24 प्रतिशत महिलाओं को ही इस सन्दर्भ में जानकारी थी। अत: स्पष्ट है कि स्वयं सहायता समूह के माध्यम से महिलाओं के सामाजिक समावेशीकरण के साथ ही राजनीतिक समावेशीकरण का मार्ग भी प्रशस्त हुआ है।

शिक्षा स्वास्थ्य एवं स्वच्छता सम्बन्धी सजगता की स्थिति के सन्दर्भ में 56 प्रतिशत स्वयं सहायता समूहों की महिला सदस्यों द्वारा बच्चों को नियमित विद्यालय भेजने हेतु प्रोत्साहन, बालिका शिक्षा, पोषण युक्त आहार एवं स्वच्छता सम्बन्धी विभिन्न बिन्दुओं पर सजगता की स्थिति का स्तर उच्च पाया गया। अत: स्पष्ट है कि स्वयं सहायता समूह की महिला सदस्यों को नियमित रूप से टीकाकरण कार्यक्रम, शौचालय के उपयोग तथा स्वयं के घर पर ही किचन गार्डन के तहत हरी सब्जियों के उपयोग सम्बन्धी जानकारी तथा उनके क्रियान्वयन के कारण इन महिलाओं में इन सभी बिन्दुओं पर जागरुकता का स्तर उच्च है।

आर्थिक समावेशीकरण की स्थिति

महिलाओं की आर्थिक समावेशीकरण की स्थिति का मापन करने हेतु उनके आर्थिक सशक्तिकरण के सन्दर्भ में बचत करने की प्रवृत्ति, स्वयं का व्यवसाय करने की

स्थिति, बैंक मे स्वयं लेने देन करने की स्थिति तथा स्थायी सम्पत्ति क्रय करने संबंधी विश्लेषण तालिका मे प्रदर्शित किया गया है।

तालिका 3

आर्थिक समावेशीकरण की स्थिति

क्र.	विवरण	समूह से जुड़ी महिलाएँ	सामान्य महिलाएँ
1.	बचत करने की प्रवृत्ति	50 (100 प्रतिशत)	28 (56 प्रतिशत)
2.	स्वयं का व्यवसाय करने की स्थिति	21 (42 प्रतिशत)	12 (24 प्रतिशत)
3.	बैंक मे स्वयं लेने देन करने की स्थिति	25 (50 प्रतिशत)	6 (12 प्रतिशत)
4.	2 माह में बैंक से लेन-देन की स्थिति	38 (76 प्रतिशत)	5 (10 प्रतिशत)
5.	पारिवारिक बजट निर्माण मे भूमिका	31 (62 प्रतिशत)	18 (36 प्रतिशत)
6.	स्थायी सम्पत्ति क्रय करने के संदर्भ में भूमिका	22 (44 प्रतिशत)	12 (24 प्रतिशत)

स्रोत- प्राथमिक समंक

आर्थिक समावेशीकरण की स्थिति के सन्दर्भ में प्राप्त तथ्यों के विश्लेषण के आधार पर ग्रामीण महिलाओं में बचत की प्रवृत्ति से सम्बन्धित आँकड़ों से स्पष्ट है कि स्वयं सहायता समूह से जुड़ी हुई शत प्रतिशत महिलाएँ साप्ताहिक एवं मासिक रूप से बचत करती हैं। वहीं सामान्य महिलाओं में बचत की प्रवृत्ति केवल 56 प्रतिशत महिलाओं में ही है। इसका मुख्य कारण स्वयं सहायता समूह की महिला सदस्यों द्वारा समूह के माध्यम से प्रशिक्षण प्राप्त कर स्वरोजगार प्रारम्भ करना तथा आर्थिक गतिविधियाँ प्रारम्भ कर स्वयं द्वारा अर्जित आय को बचत के रूप में जमा करना है। वहीं सामान्य महिलाओं द्वारा पति पर निर्भरता तथा कुछ महिलाएँ मनरेगा में मजदूरी तथा अन्य कार्यों द्वारा बचत करती हैं।

अत: स्पष्ट है कि स्वयं सहायता समूह से सम्बन्धित महिलाओं में सामान्य महिलाओं की तुलना में बचत की प्रवृत्ति अत्यंत उच्च एवं उत्साहजनक है।

ग्रामीण महिलाओं में स्वयं का व्यवसाय अथवा स्वरोजगार के सम्बन्ध में प्राप्त तथ्यों से स्पष्ट है कि स्वयं सहायता समूह से जुड़ी 42 प्रतिशत महिलाओं द्वारा स्वरोजगार प्रारम्भ किया है जिसमें सिलाई कार्य, पापड़-अचार तथा बड़ी निर्माण, बकरी पालन तथा भैंस पालन, दुग्ध व्यवसाय तथा मुर्गी पालन मुख्य है। इसी तरह 24 प्रतिशत सामान्य ग्रामीण महिलाएँ स्वरोजगार कर रही हैं जिनमें मुख्यत: सिलाई कार्य, मुर्गी पालन एवं दुग्ध उत्पादन हैं।

स्पष्ट है कि सामान्य महिलाओं की तुलना में स्वयं सहायता समूहों से जुड़ी महिलाओं द्वारा स्वरोजगार में अधिक संलग्नता प्रदर्शित हुई है जिसका मुख्य कारण स्वयं सहायता समूहों से जुड़ी महिलाओं को राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन के तहत अवसर उपलब्ध कराया जाना है। ऐसे माध्यम से आयोजित विभिन्न मेलों एवं उत्सवों में स्टॉल और दुकान प्रदान कर अपने उत्पाद को बेचने हेतु अवसर उपलब्ध कराया जा रहा है साथ ही समूह के माध्यम से ऋण उपलब्धता ने भी स्वरोजगार की प्रवृत्ति में वृद्धि हेतु सहयोग प्रदान किया है।

बैंक खाते के स्वयं द्वारा परिचालन की स्थिति के सन्दर्भ में स्वयं सहायता समूह से सम्बन्धित 50 प्रतिशत महिलाएँ स्वयं बैंकों में जाकर जमा एवं निकासी की प्रक्रिया पूर्ण करती हैं वहीं सामान्य महिलाओं में स्वयं द्वारा खाते में जमा एवं निकासी करने वाली महिलाओं का प्रतिशत 12 है जो कि अत्यंत कम है। इसी तरह पिछले दो माह में बैंक से लेन-देन की स्थिति के संदर्भ में 76 प्रतिशत समूह से सम्बद्ध महिलाओं द्वारा बैंक मे लेन-देन किया गया वहीं सामान्य महिलाओं मे से केवल 10 प्रतिशत महिलाओं द्वारा ही खाते का परिचालन किया गया।

अत: स्पष्ट है कि समूह की महिलाओं में सामान्य महिलाओं की तुलना में आर्थिक गतिशिलता का प्रतिशत उच्च है।

परिवार में मासिक या समय-समय पर वित्तीय बजट बनाने में महिलाओं की भूमिका के संदर्भ में स्वयं सहायता समूह की सदस्य महिलाओं में 62 प्रतिशत महिलाएँ परिवार में बजट निर्माण करने में अपनी भूमिका निभाती हैं। वहीं सामान्य महिलाओं में 36 प्रतिशत महिलाओं की घर में बजट निर्माण में भूमिका रहती है। स्वयं सहायता समूह की महिला सदस्यों द्वारा परिवार में बजट निर्माण प्रक्रिया में भागीदारी महिलाओं के आर्थिक समावेशीकरण की दिशा में प्रगति का द्योतक है।

ग्रामीण क्षेत्र में महिलाओं द्वारा स्थायी सम्पत्ति क्रय करने तथा इस हेतु ऋण लेने के सन्दर्भ में स्वयं सहायता समूह की महिला सदस्यों से प्राप्त आँकड़ों से स्पष्ट है कि 44 प्रतिशत समूह की सदस्य महिलाओं द्वारा समूह के माध्यम से ऋण लेकर गृह निर्माण, पशु धन की खरीदी तथा अन्य चल एवं अचल सम्पत्ति के क्रय तथा निर्माण में अपनी महती भूमिका निभाई हैं। वहीं इस परिप्रेक्ष्य में सामान्य महिलाओं में 24 प्रतिशत द्वारा ही स्थायी सम्पत्ति के क्रय में भूमिका निभाई हैं। अत: स्पष्ट है कि सामान्य महिलाओं की अपेक्षा में स्वयं सहायता समूह से जुड़ी महिलाओं में स्वयं द्वारा स्थायी सम्पत्ति के क्रय में भागीदारी का स्तर अत्यंत उच्च है जिसका मुख्य कारण स्वयं सहायता समूह की महिलाओं का आर्थिक रूप से सशक्त होना है।

स्वयं सहायता समूहों का महिलाओं के जीवन पर प्रभाव

स्वयं सहायता समूहों में कार्य करने के कारण महिलाओं के आत्मविश्वास, स्वाभिमान, आत्म-गौरव इत्यादि में वृद्धि हुई है क्योंकि घरेलू परिधि के बाहर एक समूह के रूप में छोटी-छोटी बचत इकट्ठी करके, ऋण लेकर, बैंक कर्मचारियों से संपर्क, लघु उद्यम स्थापित करके, समूह की बैठकों की कार्रवाई संचालित करके महिलाओं में निम्नलिखित क्षमताओं का विकास हुआ हैं :

स्वनिर्णय की शक्ति

स्वयं सहायता समूह के सदस्य के रूप में महिलाओं की स्वयं निर्णय लेने की शक्ति का विकास हुआ है। महिलाओं द्वारा बैंकों के साथ लेन-देन, कागजी कार्रवाई इत्यादि करने से

उनका आत्म-विश्वास बढ़ा है। समूह की गतिविधियों के संचालन, बैठकों में भाग लेने से महिलाओं की स्वनिर्णय की क्षमताओं का भी विकास हुआ है जिसके फलस्वरूप धीरे-धीरे परिवार और समुदाय में उनके विचारो को सम्मान मिला है।

जानकारी तथा संसाधनों की उपलब्धता

समूह के सदस्य के रूप में महिलाओं की गतिशीलता बढ़ी है। घर की चारदीवारी में कैद रहने वाली महिलाएं इन समूहों के माध्यम से पंचायत संस्थाओं, बैंक, सरकारी तंत्र, गैर-सरकारी संगठनों, सूक्ष्म वित्त संस्थानों इत्यादि संस्थाओं के निरंतर संपर्क में आती है जिससे उन्हें अनेक सूचना एवं संसाधन प्राप्त होते हैं। सूचना एवं संसाधनों की उपलब्धता महिलाओं को सामाजिक-आर्थिक रूप से सशक्त करती है।

सामूहिक निर्णय के मामलों में अपनी बात बलपूर्वक रखने का सामर्थ्य

अध्ययन से स्पष्ट हुआ है कि स्वयं सहायता समूहों में कार्य करने वाली महिलाओं की सामुदायिक कार्यों में सहभागिता तथा पंचायत की बैठकों में अधिक सक्रिय उपस्थिति है। अन्य महिलाओं की अपेक्षा ये महिलाएँ अपनी बात समुदाय के सामने अधिक बलपूर्वक रख पाती है जो कि महिलाओं के सामाजिक समावेशीकरण एवं सशक्तिकरण का द्योतक है।

आर्थिक आत्मनिर्भरता

स्वयं सहायता समूह की सदस्य के रूप में महिलाएँ आर्थिक रूप से आत्म-निर्भर बनी हैं जिससे उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ है। बचत का उपयोग वे अपने निजी कार्यों अथवा बच्चों की शिक्षा एवं स्वास्थ्य इत्यादि में करती हैं। अध्ययन से यह भी स्पष्ट है कि आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर महिलाओं के साथ घरेलू हिंसा के मामले भी कम हुए हैं।

कौशल विकास

हमारे देश में प्राय: महिलाएं सिलाई, कढ़ाई, पापड़ बनाने, अचार बनाने जैसे कई कार्य करती हैं किन्तु इन्हीं कार्यों को स्वयं सहायता समूहों के माध्यम से बड़े पैमाने पर वाणिज्यिक आधार पर किया जा रहा है। इन समूहों को सरकारी तथा गैर-सरकारी संगठनों द्वारा कौशल प्रशिक्षण भी दिया जाता है जिससे महिलाओं में व्यक्तिगत एवं सामूहिक क्षमता का विकास हुआ है। साथ ही उन्हें उत्पादन/सेवाओं के विक्रय हेतु बाजार भी उपलब्ध हुए है।

लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में विश्वास

स्वयं सहायता समूहों में सामान्यतया सभी महिला सदस्य सामान्य सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि की होती हैं तथा समूहों की समस्त गतिविधियों में लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं को अपनाया जाता है जिससे महिलाओं का लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं में विश्वास मजबूत होता

है। इसके फलस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों में राजनीतिक संस्थाओं यथा ग्राम सभा, ग्राम पंचायतों मे महिलाओं की सहभागिता में वृद्धि हुई है।

वित्तीय क्षेत्र में भागीदारी

आज दुनिया भर में महिलाओं के स्वयं सहायता समूहों को गरीबी का मुकाबला करने में सबसे ज्यादा आशाजनक माना जा रहा है। भारत में 80 प्रतिशत से अधिक स्वयं सहायता समूह महिलाओं से संबद्ध हैं तथा इन समूहों के माध्यम से महिलाओं में बचत की प्रवृत्ति में वृद्धि हुई है। साथ ही समूह से ऋण प्राप्त कर स्वयं का व्यवसाय प्रारंभ कर वित्तीय क्षेत्र में अपनी पहचान स्थापित की है। अत: वित्तीय क्षेत्रों में राष्ट्रीय आजीविका मिशन के कारण महिलाओं की भागीदारी बढ़ी है।

परिकल्पनाओं का परीक्षण

उक्त अध्ययन में सह संबंधित चरों एवं उसके प्रभावित करने वाले कारकों के मध्य सह-सम्बन्ध की मात्रा एवं दिशा की जांच की गई। चयनित परिकल्पनाओं का सांख्यिकी तकनीक काई वर्ग (χ^2) से परीक्षण किया गया है।

परिकल्पना क्र. 1

''एन.आर.एल.एम. से जुड़ी महिलाओं का सामाजिक समावेशीकरण का स्तर अन्य महिलाओं की तुलना में उच्च है।''

उक्त परिकल्पना का परीक्षण तालिका के अनुसार किया गया है जिसमें राष्ट्रीय आजीविका मिशन से जुड़ी महिलाओं एवं अन्य महिलाओं के सामाजिक समावेशीकरण के सकारात्मकता एवं नकारात्मकता का संबंध देखा गया है।

H_a एन.आर.एल.एम. से जुड़ी महिलाओं का सामाजिक समावेशीकरण का स्तर अन्य महिलाओं की तुलना में उच्च है।

H_o एन.आर.एल.एम. से जुड़ी महिलाओं का सामाजिक समावेशीकरण का स्तर अन्य महिलाओं की तुलना में उच्च नहीं है।

	Value	**df**
Pearson Chi- Square	5.735	1

उपर्युक्त परिकल्पना के संबंध में 5 प्रतिशत सार्थकता स्तर पर एक स्वतंत्र संख्या के लिए χ^2 का सारणी मूल्य $\chi^2_t = 3.841$ है तथा χ^2 का परिमाणित मूल्य $\chi^2_c = 5.735$ प्राप्त होता है।

अर्थात $\chi^2_c > \chi^2_t$ (5.375 > 3.841) है इसलिए शून्य परिकल्पना H_o अस्वीकार की जाती है। H_a स्वीकार की जाती है।

अत: यह स्पष्ट है कि एन.आर.एल.एम. से जुड़ी महिलाओं का सामाजिक समावेशीकरण का स्तर अन्य महिलाओं की तुलना में उच्च है।

परिकल्पना क्र. 2

राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन से जुड़ी महिलाओं का आर्थिक समावेशीकरण की स्थिति सामान्य महिलाओं की तुलना में उच्च है।

उक्त परिकल्पना का परीक्षण तालिका के अनुसार किया गया है जिसमें एन.आर. एल.एम. से जुड़ी महिलाओं एवं अन्य महिलाओं के आर्थिक समावेशीकरण के सकारात्मकता एवं नकारात्मकता का संबंध देखा गया है।

H_a एन.आर.एल.एम. से जुड़ी महिलाओं का आर्थिक समावेशीकरण का स्तर अन्य महिलाओं की तुलना में उच्च है।

H_o एन.आर.एल.एम. से जुड़ी महिलाओं का आर्थिक समावेशीकरण का स्तर अन्य महिलाओं की तुलना में उच्च नहीं है।

	Value	**df**
Pearson Chi- Square	98.042	1

उपर्युक्त परिकल्पना के संबंध में 5 प्रतिशत सार्थकता स्तर पर एक स्वातंत्र संख्या के लिए χ^2 का सारणी मूल्य $\chi^2_t = 3.78$ है तथा χ^2 का परिमाणित मूल्य $\chi^2_c = 98.042$ प्राप्त होता है।

अर्थात $\chi^2_c > \chi^2_t$ (98.042 > 3.78) है इसलिए शून्य परिकल्पना H_o अस्वीकार की जाती है। अर्थात् दोनों गुणों में संबंध है।

अत: यह स्पष्ट है राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन से जुड़ी महिलाओं का आर्थिक समावेशीकरण की स्थिति सामान्य महिलाओं की तुलना में उच्च है।

अत: स्पष्ट है कि वैज्ञानिक विधि से परीक्षणोपरान्त यह सिद्ध होता है कि एन.आर. एल.एम. से सबद्ध महिलाओं का सामाजिक एवं आर्थिक समावेशीकरण का स्तर सामान्य महिलाओं की तुलना में उच्च है।

महिला स्वयं सहायता समूहों के विकास में बाधक तत्व एवं नीतिगत सुझाव

महिलाओं के स्वयं सहायता समूहों द्वारा काफी अच्छा काम किया जा रहा है किन्तु भारतीय परिप्रेक्ष्य में महिलाओं को स्वयं को समूहों के रूप में संगठित होने एवं किसी उद्यम

के विकास में पुरुषों की तुलना में कहीं अधिक कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है जिसमें मुख्यरूप से निम्नानुसार है -

(क) महिलाओं की गतिशीलता में बाधाएँ

भारत में पुरुष प्रधान समाज के कारण महिलाओं का जीवन प्राय: घर की चारदीवारी में ही सीमित होता है। इसलिए घर के बाहर जाकर स्वयं सहायता समूहों के रूप में संगठित होने की स्थिति में उन पर अनेक प्रकार की सामाजिक बाधाएँ होती हैं। महिलाओं द्वारा समूहों के रूप में संगठित होने पर भी उन्हें अपने उद्यम को आगे बढ़ाने के लिए बैंकर्स, गैर-सरकारी संगठनों, अपने उत्पादों के लिए मध्यस्थों इत्यादि से बातचीत करनी होती है जिसमें कई बार परिजनों द्वारा बाधाएँ डाली जाती हैं। इसी प्रकार पुरुष जहां देर रात तक काम कर सकते हैं महिलाओं के लिए कार्य करने की अवधि अनेक कारणों से सीमित होती है। अत: ग्रामीण समाज में महिला सशक्तिकरण की दिशा में लैंगिक भेदभाव समाप्त करने की दिशा में प्रयास करने की आवश्यकता है।

(ख) सामाजिक प्रतिबंध

भारतीय समाज में महिलाओं के रहन-सहन, काम-काज, रोजगार इत्यादि पर अनेक सामाजिक-पारम्परिक रीति-रिवाज भी बाधा के रूप में काम करते हैं। महिला स्वयं सहायता समूहों को स्वयं के उद्यम के उत्पादों का प्रचार करने एवं उनको शहरों तक पहुंचाने के लिए पुरुषों की सहायता लेनी पड़ती है। परिणामत: समूहों में कार्य करने के बावजूद महिलाएं स्वयं में पूर्ण विश्वास नहीं कर पाती हैं तथा पुरुषों पर निर्भरता को अपने जीवन का यथार्थ मानने लगती हैं। अत: शासन स्तर पर महिलाओं को आत्मनिर्भर बनाने की दिशा में और कार्यक्रम एवं योजनाओं का संचालन करने की महती आवश्यकता सिद्ध हुई है।

(ग) बैंकर्स का नकारात्मक रवैया

परम्परागत रूप से बैंकों में पुरुष ग्राहक ही अधिक संख्या में होते हैं तथा महिलाएं एकाधिक कारणों से बैंकिंग सेवाओं से वंचित रही हैं। स्वयं सहायता समूहों की सदस्य के रूप में जब महिलाएँ बैंकों से ऋण इत्यादि के लिए संपर्क करती हैं तो पूर्व अनुभव के अभाव में उनकी जिज्ञासाएं एवं शंकाएं अधिक होती हैं किन्तु बैंकर्स की तरफ से इस स्थिति के प्रति सकारात्मक और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार नहीं किया जाता है जिससे महिला समूहों का मनोबल कम होता है। अत: शासन स्तर से बैंक के कर्मचारीयों को स्वयं सहायता समूहों की महिलाओं को सहयोग प्रदान करने हेतु एवं अधिक संवेदनशील होने हेतु यथोचित कदम उठाये जाने की आवश्यकता है।

(घ) प्रशासनिक बाधाएँ

सरकारी संस्थाओं से संपर्क साधने में महिला समूहों को प्रशासनिक जटिलताओं, भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, पुरुषवादी मानसिकता इत्यादि के कारण अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है। फलस्वरूप सरकार द्वारा स्वयं सहायता समूहों के लिए चलाई जा रही अनेक प्रोत्साहन योजनाओं का लाभ महिला समूह यथोचित प्रकार से नहीं उठा पाते हैं अथवा उन्हें अनेक चुनौतियों से जूझना पड़ता है। अत: स्वयं सहायता समूह द्वारा महिलाओं को ऋण प्राप्ति प्रक्रियाओं को सुगम बनाने की आवश्यकता है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय आजीविका मिशन का महिलाओं के सशक्तिकरण में महत्वपूर्ण योगदान हैं क्योंकि इन समूहों में कार्य करने से महिलाओं के स्वाभिमान, गौरव, आत्मनिर्भरता एवं क्षमताओं में वृद्धि हुई है। आज भारत दुनिया भर में महिलाओं द्वारा संचालित स्वयं सहायता समूहों के क्षेत्र में सर्वोपरि स्थान रखता है किन्तु हमारे देश में महिलाओं के संदर्भ में व्याप्त सामाजिक रूढ़िवादिता के कारण महिला समूहों की गतिशीलता एवं साध्यता में अनेक चुनौतियां खड़ी होती हैं। इन चुनौतियों को कम करने में महिला संगठनों, समाजसेवी संस्थाओं, गैर-सरकारी संगठनों, सरकारी एजेंसियों इत्यादि द्वारा कार्य किया जा रहा है। जहाँ एक ओर समूह के माध्यम से महिलाओं में बचत की प्रवृत्ति, परिवार में निर्णय निर्माण में सहभागिता तथा समाज में महिलाओं के सम्मान में वृद्धि हुई है वही दूसरी ओर महिलाओं के आर्थिक सशक्तिकरण का मार्ग भी प्रशस्त हुआ है। स्वयं सहायता समूह एक ऐसे महत्वपूर्ण साधन के रूप में उभरा है जिससे ग्रामीण क्षेत्र की शिक्षित और अशिक्षित दोनों प्रकार की महिलाओं में सभी पहलुओं की मजबूती आई है। ग्रामीण क्षेत्र की महिलाओं में यही जागरूकता उन्हें सशक्तता प्रदान कर रही है। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ग्रामीण महिलाओं के सर्वांगीण विकास में राष्टीय आजीविका मिशन ने अल्पसमय में ही विकास के नवीन आयाम स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

सन्दर्भ

जूलियट हंट, 'रिफलेक्शन ऑन माइक्रोफाइनेंस एण्ड वुमन्स इम्पावरमेन्ट' इन्डिपेन्डेन्ट कन्सलटेन्ट, नलिनी कास्यथान, ऑक्सफेन कम्यूनिटि, एंड एब्राड, *साउथ एशिया, 2002 डेवलेपमेन्ट बुलेटिन,* 57, पेज नम्बर 71-75.

जोशी, संदीप एण्ड तिवारी अमित (2019) *नेशनल लेवल मॉनिटरिंग रिर्पोट, संबलपुर डिस्ट्रीक्ट, उड़ीसा,* फेज 1, एम.पी. इन्सटिट्यूट ऑफ सोशल सांइस, रिसर्च, उज्जैन, म.प्र.

जोसफ, जॉन सेन्टेगो (2007), 'द रिलेवेन्स ऑफ इनवॉल्वमेन्ट इन माइक्रो क्रेडिट सेल्फ हेल्फ ग्रुप्स एण्ड इम्पावरमेन्ट फाइन्डिग्स फ्राय सर्वे ऑफ रूरल डेवलपमेन्ट इन तमिलनाडु', *जर्नल ऑफ द ह्यूमिनिटी एण्ड सोशल साइंस,* वाल्यूम 68

मेल्कम हार्पर (2002), *प्रमोशन ऑफ सेल्फ हेल्फ ग्रुप्स अंडर द सेल्फ हेल्फ ग्रुप्स, बैंक लिन्केज ग्रुप्स इन इंडिया,* नाबार्ड, मुम्बई.

त्रिपाठी, के.के. एण्ड जैन, के. सुधीर (2010), माइक्रो फाइनेंस एण्ड रूरल सेल्फ हेल्प ग्रुप्स : अ स्टडी ऑफ डिस्ट्रीक्ट इन उड़ीसा एण्ड हरियाणा, *जर्नल ऑफ रूरल डेवलेपमेन्ट*, वाल्यूम 29(2).

https://aajeevika.gov.in/ date-31-12-20 time-5.12

https://www.nrlm.gov.in date-2-2-21 time- 4.23 PM

https://rdd.maharashtra.gov.in/en/swarna-jayanti-gram-swarozgar-yojana date-31-12-2020 time-6.23 pm

https://rural.nic.in/ date-3-2-21 time- 6:54 Pm

http://umed.in/ date-2-2-21 time- 4.54 PM

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 18, संयुक्तांक, जनवरी-दिसम्बर 2020, पृ. 68-77)

हाशिये का समाज एवं मानव अधिकार : एक विश्लेषण (जनजातीय समाज के विशेष सन्दर्भ में)

पुनीत कुमार* एवं मंजुलता गर्ग†

विकास अथवा प्रगति का जो अनुष्ठान आधुनिक मनुष्य द्वारा किया गया है, उसके साथ जीवन के उस अंश को सन्तुलन स्थापित करने में सर्वाधिक असुविधा हुई है, जिसका जीवन पूर्णत: प्रकृति अथवा प्रकृति के विविध स्वरूपों पर केन्द्रित रहा है, यथा - जनजातीय समाज। जनजातीय समाज के विषय में विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विश्लेषणात्मक अध्ययन यह स्थापित करते हैं कि यह समाज आदिकाल से प्रकृति का ही अनिवार्य अंश रहा है। यह तथ्य सत्य है कि जनजाति समाज प्रगति के प्रचलित मापदण्डों से अनुकूलन करने में प्राय: असफल सिद्ध होता रहा है। जनजातीय समाज का जीवन और सभ्यता तथा संस्कृति, प्रकृति या प्राकृतिक उत्पादों पर केन्द्रित रही है। दूसरी ओर आदिवासी समाज शिक्षा को प्राथमिक आवश्यकता स्वीकारने को तैयार आज भी नहीं है। यह आदिम समाज जीविकोपार्जन के आधुनिक साधनों से आज भी सामंजस्य नहीं बैठा पाया है। आदिवासी समाज की प्रगति को निश्चित करने वाले विधि-विधान का अभाव कदापि नहीं है। आवश्यकता उनके उचित क्रियान्वयन की है।

---

*विभागाध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग, शास. एस.एम.एस. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, शिवपुरी (म.प्र.)
E-mail: puneet_1965@yahoo.co.in
†एसोसिएट प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग, शास. एस.एम.एस. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, शिवपुरी (म.प्र.)
E-mail: manjulatagarg@gmail.com

प्रस्तावना

कदाचित 'विकास' अथवा 'प्रगति' उन शब्द-युग्मों की श्रेणी में प्रमुख स्थान अवश्य प्राप्त कर सकता है, जिनके प्रति आधुनिक सभ्यता असीमित आसक्ति अनुभूत करती रही है। इक्कीसवीं शताब्दी के सिंहद्वार के पार पहुँच कर वर्तमान आधुनिक मानव 'प्रगति' की अवधारणा को लेकर सर्वाधिक भ्रमित भी प्रतीत हो रहा है। पर्यावरण विनाश, मानव अधिकारों का हनन, मनुष्यों के मध्य बढ़ती वैमनस्यता, महिला असुरक्षा, भ्रष्टाचार की असीम मानुषिक लालसा, सामाजिक और आर्थिक सीमान्त अथवा हाशिये का निरन्तर होता विस्तार और अन्ततः भौतिकवाद का असीमित ताण्डव इत्यादि वे लक्षण हैं, जिनके कारण विकास अथवा प्रगति के प्रचलित मापदण्डों की तटस्थ समीक्षा की अनिवार्यता को स्वीकारा जाना अपरिहार्य हो रहा है। आधुनिक विकास की विकलांगता का अनुभव इस एक दृष्टान्त से करना अत्यन्त सरल है कि इस विकास की प्रक्रिया ने समाज के उन अंशों को निरन्तर हाशिये की ओर धकेला है, जिन्हें विकसित होने की आवश्यकता सर्वाधिक है। परिणाम यह हुआ है कि तथाकथित विकास और प्रगति जिस वर्ग को उपलब्ध हुई है, उसका आकार निरन्तर संक्षिप्त और संकुचित होता रहा और इस संकुचित परन्तु विकसित होते वर्ग के चारों ओर एक हाशिया विस्तार पाता चला गया। फलतः प्रगति और विकास से दूर रहने वाला वर्ग या समाज एक मानक जीवन से निरन्तर वंचित होता हुआ, प्रगति से दूर हाशिये पर स्थित रहा। भारतवर्ष का जनजातीय समाज प्रगति से दूर हाशिये पर स्थित वह समाज है जो वर्तमान इक्कीसवीं शताब्दी में भी उन आधारभूत आवश्यकताओं से वंचित है, जिनके बिना मानवीय जीवन असम्भव है। मृदुसत्य यह है कि मानव अधिकार विकास के हाशिये पर खड़े मनुष्यों और समाज के अधिकारों का सबसे बड़ा पहरेदार है। मानव अधिकारों की अवधारणा मनुष्य को मानवीय जीवन उपलब्ध कराने के प्रति कटिबद्ध है। विकास से दूर होने के कारण निर्मित और विस्तृत हो रहे हाशिये मानव अधिकारों के पथ में एक गम्भीर चुनौती है। जबकि यह सत्य है कि मानव अधिकारों की सर्वोच्च प्राथमिकता समाज में निर्मित हुए इन हाशियों को द्रवित करने की है।

जनजातीय समाज से तात्पर्य

विकास अथवा प्रगति का जो अनुष्ठान आधुनिक मनुष्य द्वारा किया गया है, उसके साथ जीवन के उस अंश को सन्तुलन स्थापित करने में सर्वाधिक असुविधा हुई है, जिसका जीवन पूर्णतः प्रकृति अथवा प्रकृति के विविध स्वरूपों पर केन्द्रित रहा है, यथा - जनजातीय समाज। जनजातीय समाज के विषय में विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विश्लेषणात्मक अध्ययन यह स्थापित करता है कि यह समाज आदिकाल से प्रकृति का ही एक अनिवार्य अंश रहा है। 'सोवार्ट, टैलेंट्स, रिजले, ग्रिगसन, लेके, सेल्जनिक, ए.बी. ठक्कर तथा मार्टिन ने उन्हें आदिवासी (एबोरिजीनीज़) सम्बोधन प्रदान किया है'।[1] निस्सन्देह, जनजाति अथवा आदिवासी समाज वह समाज है, जो आत्मनिर्भर अथवा स्वयं पर केन्द्रित होते हुए परिपूर्ण होता है। इस समाज के अधिकांश नियम और विधि-विधान स्वयं उनके अपने द्वारा निर्मित होते हैं।[2]

आदिवासी अथवा जनजातीय समुदाय पर प्रगति के प्रचलित मापदण्डों से प्राय: सामंजस्य स्थापित न कर पाने के आरोप लगते रहे हैं, वस्तुत: यह तथ्य सत्यता के निकट भी है। ए.आर. देसाई ने जनजातीय समाज के कुछ लक्षण इस प्रकार बताये हैं -

- वे सभ्य जगत से दूर पर्वतों और जंगलों में अत्यन्त दुर्गम स्थानों में निवास करते हैं।
- वे समान जनजातीय बोली का प्रयोग करते हैं।
- वे आदिम धर्म को मानते हैं, जो कि सर्वजीववाद के सिद्धान्तों पर आधारित है, जिसमें भूत-प्रेत तथा आत्माओं की पूजा का विशेष स्थान है।
- वे जनजातीय (प्रकृति पर आधारित) व्यवसायों को अपनाते हैं, जैसे प्राकृतिक उपयोगी वस्तुओं का संग्रह, शिकार, वन में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं का संग्रह।
- वे अधिकांशतया मांसाहारी हैं।
- वे प्राय: नग्न अथवा अर्द्धनग्न अवस्था में रहते हैं तथा वस्त्रों के स्थान पर पेड़ की छाल तथा पत्तों का प्रयोग करते हैं।
- वे खानाबदोश शैली में जीवन व्यतीत करते हैं तथा मद्यपान एवं नृत्य में विशेष रुचि रखते हैं।[3]

वर्तमान समय में आदिवासी समाज के कुछ लक्षण प्राय: परिवर्तित हो चुके हैं तथापि यह भी यथार्थ है कि अभी भी जनजातीय समाज जीवनयापन के लिए प्रकृति पर निर्भर है तथा तकनीकी और आधुनिक जीवनशैली से अछूता है। इनका समूह छोटा होता है तथा इनकी भाषा भी आधुनिकता से अछूती है। 1943 में वरियर एल्विन ने भारतीय आदिवासियों के विषय में अपनी पुस्तक में कहा है कि "आदिवासी भारतवर्ष के वास्तविक निवासी हैं, जिनकी उपस्थिति में प्रत्येक व्यक्ति विदेशी है। ये वे आदिम समुदाय हैं, जिनके नैतिक आधार और दावे हजारों वर्ष पुराने हैं। उन पर विचार सर्वप्रथम होना चाहिए।"[4] अर्थात् 1943 में ही जिस सत्य का उद्घाटन हो चुका था वह आज भी उस उपेक्षा के दंश का आखेट है, जो पूर्णत: मनुष्य द्वारा निर्मित है। जनजातीय अथवा आदिम समाज के जीवन और संस्कृति का प्रत्येक अंश प्रकृति अथवा प्राकृतिक उत्पादों पर आधारित है जबकि प्रगति के प्रचलित मापदण्डों ने अपनी लालसा के हवन-कुण्ड में सर्वप्रथम प्रकृति एवं उसके उत्पादों को ही स्वाहा किया है। परिणामत: स्पष्ट है भारतवर्ष में जनजातियाँ उन कृत्यों के कारण अभियुक्त एवं अविकसित बनती रही हैं, जिसे उनके पूर्वज शताब्दियों से अपनी परम्परा मानकर करते आ रहे हैं। फलत: अज्ञानता और पिछड़ेपन के हाशिये के पाश में यह समाज आज भी जकड़ा हुआ है।

प्रगति के प्रचलित मापदण्ड के प्रमुख अवयव

इक्कीसवीं शताब्दी का भविष्य में जब कभी ऐतिहासिक दृष्टि से विश्लेषण किया जाएगा, तो 'वैश्वीकरण' का उस विश्लेषण मे रेखांकन योग्य उल्लेख होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इस वैश्वीकरण के दो अनिवार्य अंश हैं - उदारवाद एवं निजीकरण। यह 'उदारवाद'

राजनीति विज्ञान में प्रयुक्त होने वाले उदारवाद की अवधारणा से प्रेरित अवश्य हो सकता है, परन्तु वाणिज्यिक सन्दर्भों में इसका अर्थ मात्र व्यापारिक हितों की निर्बाध सुनिश्चितता से है। निजीकरण प्रत्येक आर्थिक लाभ के अवसरों को निजी हाथों द्वारा ग्रहण करने के अर्थ से गर्भित है। इस भूण्डलीकरण के कुछ प्रमुख लक्षण हैं, यथा - सेवा क्षेत्र तथा आवश्यक सामग्री का व्यापार के माध्यम से प्रसार, विभिन्न राष्ट्रों एवं क्षेत्रों के मध्य आमजन के आवागमन को बढ़ाना, राष्ट्रों के मध्य धन का विनिमय एवं भुगतान के माध्यमों में वृद्धि, सामग्रियों एवं सेवाओं को उत्पन्न करने के लिए एक देश से दूसरे देश में पूंजी का प्रवाह सुनिश्चित करना, वित्तीय साधनों का प्रसार, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का उदय होना, नवीनतम तकनीक द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रसार, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का उदय होना, नवीनतम तकनीक द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का संचालन, प्रिंट एवं इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का प्रसार तथा विभिन्न उद्योगों के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय साझेदारी।[5] वैश्वीकरण अथवा भूमण्डलीकरण की इन समस्त विशेषताओं का अवलोकन यह स्पष्ट करने में सक्षम है कि 'लाभ-अर्जन' इसका केन्द्रीय ध्येय है। भूमण्डलीकरण की इस मौलिक प्रवृत्ति 'लाभ-अर्जन' द्वारा ही सीमान्त अथवा हाशिये पर स्थित समाज - जनजातीय समाज - के समक्ष, वर्तमान में गम्भीर चुनौतियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं। प्रस्तुत बिन्दु पर इस कटु यथार्थ को स्वीकारा जा सकता है कि स्वतन्त्रता के पश्चात् जब भी प्रगति के मापदण्डों का निर्धारण किया गया है, उसका प्रत्यक्ष 'दुष्प्रभाव' आदिवासी समाज पर पड़ा है, चाहे वह मापदण्ड तथाकथित नियोजित विकास की बाँबी से निकला हो अथवा 'गरीबी हटाओ' के केंचुल के आवरण में प्रस्तुत हुआ हो। 'भूमण्डलीकरण' वाणिज्यिक हितों मात्र पर आधारित पूर्ववर्ती मापदण्डों का आधुनिक, परिवर्द्धित और संशोधित संस्करण ही है। फलत: उसके दुष्परिणाम भी अधिक घातक हैं। यह कहा जा सकता है कि प्रगति के वर्तमान प्रचलित मापदण्ड भी जनजातीय उन्नति के मापदण्डों से सामंजस्य स्थापित करने में पारंगत कदापि नहीं हैं।

जनजातीय समाज की प्रमुख समस्याएँ

इस समाज की सर्वप्रमुख समस्या है समाज के अन्य वर्गों के साथ सात्मीयकरण न हो पाना। इस सात्मीयकरण के अभाव के दो प्रमुख कारण हैं, प्रथम - शिक्षा की दृष्टि से जनजातीय समाज का पिछड़ना और द्वितीय आर्थिक दृष्टि से इस वर्ग का साधनहीन रह जाना। इन दो प्रमुख न्यूनताओं के परिणामस्वरूप सात्मीयकरण के अभाव की ग्रस्तता के कारण आदिवासी समाज प्रगति के प्रचलित मापदण्डों से प्राय: अस्पृश्य ही रहा है। फलत: प्रस्तुत होने वाले परिवर्तनों से इस समाज का सामयिक कदमताल न कर पाना, बहुत आश्चर्यजनक नहीं होना चाहिए। हाशिये पर ठहरे हुए इस समाज की दो प्रमुख समस्याओं का संक्षिप्त विश्लेषण अग्रानुसार है -

शिक्षा

शिक्षा वर्तमान में भी एकमात्र वह आधारभूत कारक है, जिसकी सन्तुलित उपलब्धता मानव के सर्वांगीण उन्नति का श्रेष्ठतम वाहक हो सकता है। जनजातीय समाज का प्रगतिशील न हो पाने का एक सशक्त कारण यह भी है कि शिक्षा के क्षेत्र में यह समाज वांछनीय प्रगति नहीं कर पाया। यद्यपि स्वातन्त्र्योत्तर भारतवर्ष की प्रत्येक शिक्षा नीति में आदिवासियों की शिक्षा के स्तर को प्रोन्नत बनाना प्रत्येक शासन व्यवस्था के चिन्तन का केन्द्रीय विषय रहा है तथापि यथार्थ यह भी है कि आदिवासी बहुल क्षेत्रों की दुर्गमता, शिक्षा के माध्यम की भाषा की दुरूहता, जनजातीय समाज को अपरिचित न लगने वाले शिक्षकों की कमीं और अन्ततः इस समाज को शिक्षा की उपयोगिता और महत्ता के प्रति सुनिश्चित करने वाले प्रचार-प्रसार की न्यूनता, वे कारक हैं, जिनके दुष्प्रभाव से यह समाज वर्तमान इक्कीसवीं शताब्दी में भी शिक्षा को प्राथमिक आवश्यकता स्वीकारने को तत्पर नहीं है। "जनजातीय बहुल विद्यालयों में बीच में पढ़ाई छोड़ने वाले विद्यार्थियों का प्रतिशत उच्चतर है। आदिवासी बच्चे प्राथमिक उच्चतर शिक्षा के प्रारम्भिक तीन-चार वर्षों तक की पढ़ाई को पर्याप्त मानकर प्रायः विद्यालय छोड़ देते हैं। कतिपय मात्र हाईस्कूल स्तर की पढ़ाई को पर्याप्त मानकर अपना अध्ययन अधूरा छोड़ देते हैं। तत्पश्चात् अत्यन्त अल्प प्रतिशत उच्च शिक्षा के स्तर तक पहुँच पाते हैं। चिन्ता का विषय है कि उच्च शिक्षा में भी अध्ययन अधूरा छोड़ने वाले विद्यार्थियों का प्रतिशत उल्लेखनीय है। वे आदिवासी समाज - कृषि जिनका मुख्य व्यवसाय है - यथा, गौण्ड समाज, शिक्षा को अपनी प्राथमिक आवश्यकता नहीं स्वीकारता है। यह समाज बच्चों को शिक्षित करने के स्थान पर उन्हें खेतों में कार्य करने के लिए प्रेरित करना उचित समझता है। उत्तर-पूर्व क्षेत्र के विद्यालयों में जनजातीय वर्ग के विद्यार्थी प्रायः प्रवेश से ही वंचित रहते हैं।"[6] "वस्तुतः जनजातीय समाज का शिक्षा की दृष्टि से जो सीमान्तीकरण हुआ है, उसके लिए किसी एक कारण को उत्तरदायी नहीं स्वीकारा जाना चाहिए, अपितु कई कारणों से इस सीमान्तीकरण का निरन्तर विस्तार हुआ है। ये कारक सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक आदि विभिन्न शीर्षकों में विभाजित किये जा सकते हैं। आदिवासी बहुल क्षेत्रों में निम्न कोटि के विद्यालय भी शिक्षा के क्षेत्र में इस वर्ग के सीमान्त होने का एक गम्भीर कारण हैं।'[7] यह कटु यथार्थ है कि आदिवासी समाज में शिक्षा की असन्तोषजनक स्थिति ने अनेक अन्य समस्याओं को भी जन्म दिया है, यथा - इस समाज का स्वच्छता के प्रति जागरूक न होना, अज्ञानता के कारण अनेक व्याधियों से रुग्ण होना, अन्धविश्वासों के प्रति दृढ़ता और जागरूकता के अभाव में शोषित होने को अभिशप्त होना तथा पर्यावरण संरक्षण के प्रति अज्ञान होना इत्यादि। इन व्याधियों से ग्रस्त समाज का हाशिये पर ठहरे रहना बहुत आश्चर्यजनक नहीं होना चाहिए।

आर्थिक कारक

शिक्षा के पश्चात् आर्थिक कारक वह द्वितीय हेतु है जिसके कारण जनजातीय समाज का प्रगति के प्रचलित मापदण्डों से बहिष्कार निरन्तर है। वन और वनोपज आदिकाल

से वनवासियों के जीविकोपार्जन का सशक्त आधार रहा है परन्तु "इस क्षेत्र में अन्य तथाकथित सभ्रान्त वर्ग के नियन्त्रण के पश्चात वनांचल अब आदिवासियों मात्र के लिए नहीं रह गया है। इसी प्रकार जनजातीय बहुल क्षेत्रों में अजीविका के साधनों की न्यूनता ने जनजातियों को शहरों की ओर विस्थापित होने के लिए विवश कर दिया है। दिन-प्रतिदिन वन क्षेत्रों का संकुचित होते जाना और वनों के संरक्षण-संवर्द्धन के नाम पर आदिवासियों का अपने शताब्दियों पुराने निवास स्थानों से विस्थापित होना इत्यादि भी वह सशक्त कारक है, जिनसे इस वर्ग के अजीविका के साधन एवं अवसर क्षीण हुए हैं।[8] "परिवहन एवं आवागमन के विकसित साधनों ने जनजातीय क्षेत्रों में अन्य वर्गों के प्रभुत्व को बढ़ाया है, दूसरी ओर जनजातीय समाज कृषि भूमि को आवश्यकता के आधार पर प्रयोग करने का समर्थक रहा है न कि स्वामित्व के आधार पर। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्हें उस कृषि भूमि से भी वंचित होना पड़ा, जिसके ऊपर उनका जीविकोपार्जन आधारित था। ऋणग्रस्तता, कृषि भूमि अथवा मकानों को गिरवी रखना, अज्ञानता के कारण कृषि उपज का अपेक्षित लाभ न मिलना इत्यादि वे कारण हैं, जिनसे आदिवासी समाज निर्धनता का दारुण दु:ख निरन्तर भोगने को अभिशप्त है। सबसे विकट स्थिति तब निर्मित हुई जब वे वर्ग जिनका जनजातीय सभ्यता और संस्कृति से कुछ भी लेना-देना नहीं था, आदिवासी होने का सरकारी सम्बोधन और प्रमाण-पत्र हथियाने में सफल हो गये।"[9] स्पष्ट है कि आधुनिक सभ्यता के प्रभाव से जनजातीय समाज आजीविका के पारम्परिक साधनों से वंचित होता गया तो दूसरी ओर वह जीविकोपार्जन के नवीन साधनों से अनजान रहा। फलत: जीवनयापन के लिए संघर्ष और उसमें सफल होने का प्रयास, एक विशाल प्रश्न बनकर जनजातीय समाज की सभ्यता, संस्कृति, आत्मसम्मान और अभीष्ट प्रगति इत्यादि सब का मुक्त हस्त से शोषण कर रहा है। परिणामस्वरूप प्रगतिहीनता के हाशिये का भुक्तभोगी होना बहुत स्वभाविक है।

जनजातीय समाज एवं वर्तमान प्रगति के विरोधाभास

इक्कीसवीं शताब्दी के दो दशक व्यतीत हो जाने के पश्चात् जनजातीय समाज का अविकास चीत्कारिक घोषणा कर रहा है कि वह आधुनिक प्रगति के साथ अनुकूलन कर पाने में असफल रहा है। वस्तुत: धर्म आधारित संस्कृति और सभ्यता तथा वन एवं प्रकृति पर केन्द्रित आजीविका के साधन इस आदिवासी समाज की आधारभूत विशिष्टता रही है, जबकि तथाकथित विकास का पुरातन से नवीनतम संस्करण वन एवं प्रकृति का शुभचिन्तक कभी नहीं रहा है। धर्म, संस्कृति और सभ्यता जैसे तत्व तो कभी इस संस्करण की प्राथमिक सूची में रहे ही नहीं। फलत: जनजातीय समाज को प्रगति के विरोधाभास का आखेट होना ही था। "घोटुल सदृश पवित्र सांस्कृतिक स्थल आधुनिक प्रगति के लिए ऐयाशी का पर्याय हो गया, झूम कृषि नवीन व्यवस्था में अपराध हो गया, महुआ, गोन्द, तेन्दुपत्ता, जड़ी-बूटियाँ, शहद, जलावन लकड़ियाँ, पत्थर, पटिया, खण्डे, इत्यादि का प्रयोग करना, संग्रह कर विक्रय करना, बिक्री कर, अनुज्ञापन और इंस्पेक्टर राज संस्कृति की कुदृष्टि के कारण अप्रासंगिक

हो गये, भगोरिया लड़की भगाने जैसे अपराधों की श्रेणी में आ गया, घर पर देसी मदिरा बनाना आबकारी विधि की दृष्टि से अपराध हो गया, कृषि भूमि पर स्वामित्व के अभाव में कार्य करना राजस्व अपराध हो गया। अर्थात् आधुनिकता ने जनजातीय समाज की नैसर्गिक मासूमियत को अभियुक्त बनाने का कार्य परोक्ष-अपरोक्ष रूप से किया है। यहीं से प्रगति ओर जनजातीय समाज के विरोधाभास की कथा प्रारम्भ होती है। विधि-विधान, नियम-अधिनियम और आदेश-अध्यादेश जो नई दिल्ली के निवासियों के लिए हैं, न्यूनाधिक रूप से वही जनजातीय समाज के लिए भी क्रियान्वित हो रहे हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि शिक्षा, अजीविका के साधन, विधि एवं व्यवस्था, दण्डसंहिता, राजस्व नियम, वन अधिनियम और संस्कृति एवं सभ्यता के मापदण्ड सब कुछ जनजातीय समाज की मनोवृत्ति और मनोविज्ञान को ध्यान में रखकर ही निर्मित और क्रियान्वित किया जाना चाहिए, तभी प्रगति के मापदण्डों के विरोधाभासों को द्रवित किया जा सकेगा।

मानव अधिकार एवं जनजातीय समाज

मानव अधिकारों की अवधारणा प्रत्येक स्थिति में मानव जीवन की स्थापना के प्रति कटिबद्ध है। अपनी अवधारणा से लेकर प्रत्येक घोषणा, अनुबन्ध, चार्टर, परिपत्र, नियम एवं अधिनियम के माध्यम से मानव अधिकार ने यही स्थापित किया है कि प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग एवं समाज को मानवीय जीवन प्राप्त करने का अधिकार है। मानव अधिकारों के वर्तमान स्वरूप में जब यह विश्लेषण किया जाता है कि जनजातियों को लेकर वह कहाँ तक संवेदनशील है तो यह बहुत सहजता से ज्ञात हो जाता है कि मानव अधिकारों के अनेक प्रावधान और उपबन्ध हैं, जो जनजातियों के अधिकारों और मानव जीवन की उपलब्धता को सर्वोच्च प्राथमिकता देते हैं। इन प्रावधानों और प्रबन्धों को निम्नानुसार प्रस्तुत किया जा सकता है -

- मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा 1948 को वैश्विक स्तर पर मानव अधिकारों की औपचारिक और वैधानिक स्थापना का प्रथम सशक्त उद्यम स्वीकारा जा सकता है, जिसका प्रत्येक सभ्य राष्ट्र सम्मान करता है एवं उसके प्रावधानों को स्वीकार भी करता है। इस घोषणा के अनेक अनुच्छेद परोक्ष और अपरोक्ष रूप से जनजातियों के मानव अधिकारों को स्थापित एवं प्रोत्साहित करते हैं, यथा - घोषणा का अनुच्छेद-1 यह घोषणा करता है कि प्रत्येक मनुष्य अधिकारों के उपभोग की दृष्टि से एक समान है। इसी प्रकार अनुच्छेद-2 यह स्थापित करता है कि प्रत्येक मनुष्य को बिना किसी भेदभाव के सार्वभौमिक घोषणा में वर्णित सभी अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं के उपभोग का अधिकार है। सार्वभौमिक घोषणा में उल्लिखित कुछ प्रमुख बिन्दु हैं - व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता तथा सुरक्षा का अधिकार (अनुच्छेद-3), विधि के समक्ष प्रत्येक को एक मानव के रूप में मान्यता प्राप्त होने का अधिकार (अनुच्छेद-6), सामाजिक सुरक्षा का अधिकार तथा आर्थिक,

सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकार जो व्यक्ति की गरिमा, विकास तथा व्यक्तित्व के स्वतन्त्र विकास के लिए अपरिहार्य है (अनुच्छेद-22), जीविका का अधिकार जो व्यक्ति के और उसके परिवार के स्वास्थ्य के लिए उपयुक्त हो (अनुच्छेद-25), प्रत्येक को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार (अनुच्छेद-26), सभी को समुदाय के सांस्कृतिक जीवन में भाग लेने का अधिकार (अनुच्छेद-27)।

उपर्युक्त समस्त स्वतन्त्रता एवं अधिकार मानव समाज का अंश होने के कारण जनजातीय समाज को भी स्वयमेव प्राप्त हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

- सिविल एवं राजनीतिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा 1966 भी प्रत्येक मनुष्य को बिना किसी भेदभाव के समस्त अनिवार्य स्वतन्त्रताएँ एवं अधिकार प्रदान करता है। प्रसंविदा के अनुच्छेद-6 में स्पष्ट वर्णित है कि प्रत्येक को जीवन का अधिकार प्राप्त है। स्पष्ट है कि यह जीवन मानवीय होना अपरिहार्य है। इसी प्रकार अनुच्छेद-26 घोषित करता है कि विधि के समक्ष प्रत्येक को समानता प्राप्त है। अनुच्छेद-27 यह स्थापित करता है कि जातीय, धार्मिक एवं भाषायी अल्पसंख्यकों को अपनी संस्कृति के प्रसार तथा अभ्यास करने या अपनी भाषा के प्रयोग करने का अधिकार होगा।
- आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा 1966 के अनुच्छेद-6 में वर्णित है कि प्रत्येक को अपनी स्वतन्त्रता से चुनाव कर कार्य करने का अधिकार होगा। अनुच्छेद-9 घोषित करता है कि प्रत्येक मानव को सामाजिक सुरक्षा प्राप्त करने का अधिकार होगा। इसमें सामाजिक बीमा भी सम्मिलित है। इसी प्रकार अनुच्छेद-13 घोषित करता है कि प्रत्येक को शिक्षा प्राप्ति का अधिकार होगा। इसमें अनिवार्य एवं शुल्क मुक्त प्राथमिक शिक्षा भी सम्मिलित है। अनुच्छेद-15 यह भी स्पष्ट करता है कि सभी व्यक्तियों को अपने सांस्कृतिक जीवन में भाग लेने का अधिकार है।
- 26 जनवरी 1950 को क्रियान्वित हुआ भारतीय संविधान पूर्णत: अपने नागरिकों के सर्वांगीण कल्याण और मानव अधिकारों की सुनिश्चितता के लिए समर्पित है। इसका साक्ष्य संविधान की प्रस्तावना से ही प्राप्त हो जाता है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना न्याय, स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व की स्थापना की और सभी को इसकी उपलब्धता की बात करता है। इसी प्रकार अनुच्छेद-21 सभी व्यक्तियों के जीवन, स्वतन्त्रता एवं सुरक्षा के अधिकार को सुनिश्चित करता है। अनुच्छेद-14 तथा अनुच्छेद-15(1) विधि के समक्ष सभी की समानता स्थापित करता है। अनुच्छेद-29(1) भारतीय नागरिकों के समाजिक सुरक्षा की स्थापना करता है।
- इनके अतिरिक्त मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम 1994 सभी के अधिकारों को सुनिश्चित करने के लिए प्रतिबद्ध है। इसी प्रकार अनुसूचित जातियों तथा अन्य पारम्परिक वन निवासी अधिनियम, 2006 भी अस्तित्व में है जो वनों में निवासरत

अनुसूचित जाति या अन्य वन रहवासी सदस्यों के अनेक अधिकारों को पुष्ट करता है। इसके अतिरिक्त अनुसूचित जाति एवं जनजाति (अत्याचार निवारण अधिनियम 1989) भी है, जो इस हाशिये के समाज को अनेक अन्यायों से संरक्षित करता है।

उपर्युक्त विश्लेषण यह स्थापित करने में सक्षम है कि विकास से दूर हाशिये पर ठहरा हुआ जनजातीय समाज वैधानिक और संवैधानिक दृष्टि से किसी भी अन्य समाज की तुलना में निर्बल कदापि नहीं है। मानव अधिकारों के अनेक राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय प्रावधान तथा भारतीय संविधान के अनेक उपबन्ध जनजातीय समाज को एक मानव और नागरिक समाज होने का पूरा सम्मान प्रदान करते हैं।

सम्भावनाएँ

जनजातीय समाज अथवा आदिवासी वर्ग, निश्चय ही प्रगति की उस अवधारणा का सुपाठ नहीं कर पाया है, जिसे आधुनिक समय अनिवार्य मानता है। विडम्बना यह है कि 'सुपाठ' न कर पाने का जो भुक्तभोगी है वही इसका अपराधी भी निश्चित कर दिया गया है। जबकि सत्यता यह है कि जनजातीय समाज अपनी दुर्दशा का कारण इस आधुनिक समय को मानता है। जनजातीय समाज को प्रगति का सहयात्री बनाने हेतु कतिपय सुझाव अग्रानुसार हैं -

- किसी भी प्रकार के विधि-विधान और व्यवस्था को निर्मित करने से पूर्व जनजातीय समाज की मनोवृत्ति तथा सभ्यता एवं संस्कृति की प्राथमिकताओं एवं आवश्यकताओं का समुचित सम्मान होना चाहिए।
- शिक्षा पद्धति में आदिवासी समाज की स्थानीय भाषा का शत-प्रतिशत प्रयोग होना चाहिए।
- जनजातीय समाज प्रकृति अथवा प्रकृति आधारित जिस व्यवसाय में दशकों से कार्यरत और पारंगत है, उनका वैधानिक संरक्षण होना चाहिए।
- वनवासी समाज यदि राजस्व अथवा आबकारी सम्बन्धी किसी विधि अथवा व्यवस्था के उल्लंघन का दोषी पाया जाता है, तो उसे अनिवार्य वैधानिक क्रूरता के अन्तर्गत अभियुक्त न बनाते हुए जनजातीय समाज की सभ्यता और संस्कृति की पृष्ठभूमि में निर्णय लिये जाने चाहिए।
- जनजातीय क्षेत्रों में कार्यरत शिक्षकों, चिकित्सकों, श्रमिकों और पुलिस बल को अतिरिक्त मानदेय दिया जाना चाहिए तथा इस वर्ग के लिए विधि-विधान के उल्लंघन पर कठोर दण्ड की व्यवस्था अनिवार्य होनी चाहिए।
- आदिवासी क्षेत्रों में शिक्षा, स्वास्थ्य और विधि-विधान सम्बन्धी जागरूकता का कार्य वास्तविक निष्ठा के साथ किया जाना चाहिए तथा सम्पूर्ण कार्य स्थानीय भाषा में होना चाहिए।

उपसंहार

वस्तुत: जनजातीय समाज में शिक्षा के अभाव ने ही सारी व्याधियों को जन्म दिया है। दूसरे स्तर पर निर्धनता वह कारण है, जिसने इस वर्ग की प्रगति को व्याधिग्रस्त कर उसे हाशिये पर खड़ा कर दिया है। आदिवासी समाज की उन्नति और प्रगति के प्रचलित मापदण्डों के विरोधाभास का जो निर्वात निर्मित हुआ है उसके परिणाम में माओवाद और नक्सलवाद सदृश व्याधियों का उर्वर होना कठिन नहीं है। विकास की घातक मार से घबराया वर्ग यदि उस विकास का विरोध करने वाले में अपना शुभचिन्तक ढूँढ लेता है तो उसे दोषी मानना उचित नहीं होगा। जनजातीय समाज के संरक्षण एवं उनकी अजीविका को सुनिश्चित करने वाले मानव अधिकारों से सम्बन्धित प्रावधानों एवं संवैधानिक उपबन्धों का कदापि अभाव नहीं है, अपितु प्रासंगिकता, पर्याप्तता एवं पर्याप्त प्रचार-प्रसार का अभाव अवश्य है। इस चुनौती को क्षीण करना सम्भव है। यह यथार्थ है कि जनजातीय समाज प्रत्येक अर्थ एवं अंश में सीमान्त अथवा हाशिये पर स्थित है। जब तक यह सीमान्त अथवा हाशिया अस्तित्व में रहेगा बापू की अन्त्योदय की अवधारणा कुण्ठित रहेगी। जनजातियाँ भारतवर्ष की सांस्कृतिक धरोहर हैं और सभ्यता की दृष्टि से मूल्यवान विरासत है। भारतवर्ष की प्रत्येक नीति, निर्णय, नियोजन, नियमन और क्रियान्वयन को इस 'धरोहर' और 'विरासत' का आत्मीय सम्मान करना होगा।

सन्दर्भ

1. बेन्स, जे.ए. (2012) *इथनोप्राफी : कास्ट एण्ड ट्राइब्स,* हार्डप्रेस पब्लिशिंग, पृष्ठ 112.
2. बेतेई, आन्द्रे (1977) 'द डेफिनेशन ऑफ ट्राइब', रोमेश थापर (सम्पा.) *ट्राइब, कास्ट एण्ड रिलिज़न,* मैकमिलन, नई दिल्ली, पृष्ठ 9.
3. देसाई, ए.आर. (1961) *रूरल इंडिया इन ट्रांजीशन,* पापुलर प्रकाशन, बॉम्बे, पृष्ठ 51
4. वेरियर, एल्विन (1943) *द ऐबोरिजिनल्स,* आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृष्ठ 7-8.
5. बागची, ए.के. (1999) ग्लोबलाइजेशन, लिबरलाइजेशन एण्ड वल्नरेबिलिटी, *इकॉनामिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली,* 6 नवम्बर, पृष्ठ 3219-3223.
6. विकीपीडिया में दिनांक 7 जुलाई 2014 को अवलोकित.
7. *इकॉनामिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली,* 22 मार्च, 2014 पृष्ठ. 29.
8. *इकॉनामिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली,* 22 मार्च, 2014 पृष्ठ. 29.
9. विकीपीडिया में दिनांक 7, जुलाई 2014 को अवलोकित.

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 18, संयुक्तांक, जनवरी-दिसम्बर 2020, पृ. 78-88)

अश्वेत और दलित परिप्रेक्ष्य के सन्दर्भ में भारतीय नारीवादी आन्दोलन की प्रकृति

रश्मि गौतम*

प्रस्तुत शोध पत्र में अश्वेत और दलित परिप्रेक्ष्य में नारीवाद की प्रकृति का अध्ययन ऐतिहासिक और विश्लेषणात्मक पद्धतियों से किया गया है जिसमें महिला अधिकारों के लिए नारीवाद कहाँ तक सफल हुआ है जिसका उल्लेख करने का प्रयास किया गया है। पश्चिमी नारीवाद और भारतीय नारीवाद के भीतर के अन्तर्विरोधों का सामने लाने की कोशिश भी शोध पत्र में की गयी है। क्या नारीवाद केवल सम्भ्रान्त वर्ग की महिलाओं के अपने मुद्दों के समाधान करने तक सीमित रह गया है या फिर उसमें आम महिला के मुद्दों को उठाने का प्रयास भी किया जाता है। अश्वेत महिलाओं की समस्याओं और उनके समाधान प्रस्तुत करवाने में नारीवाद असंवेदनशील रहा है। जिसके विकल्प के रूप में अश्वेत नारीवाद और दलित नारीवाद का विकास हुआ है।

परिचय

नारीवाद महिला अधिकारों के लिए आन्दोलन के रूप में आया है। नारीवादी आन्दोलन ने पश्चिमी दुनिया से प्रारम्भ होकर भारतीय परिवेश में आगाज किया। नारीवाद का विकास कई चरणों में हुआ है। नारीवाद आन्दोलनकारियों और चिन्तकों ने इसके प्रचार-प्रसार

*आयसीएसएसआर पोस्ट-डॉक्टरल फैलो, समाज कार्य विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ (उ.प्र.)
E-mail: gautam.rswlu@gmail.com

में उल्लेखनीय भूमिका निभाई है। महिलाओं के अधिकारों के लिए सामूहिक रूप से नारीवादियों ने आवाज बुलन्द की है। यद्यपि नारीवादी आन्दोलन अन्तर्विषय विरोधाभास का शिकार भी हुआ है। फलस्वरूप अश्वेत नारीवाद और दलित नारीवाद का उदय हुआ। महिलाओं के लिए समता, स्वतन्त्रता और सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक बराबरी के प्रश्नों का दुनिया के सभी देशों में अपने-अपने तरीके से हल करने का प्रयास हुआ है जिसमें नारीवादी आन्दोलन ने अपनी अहम् भूमिका का निर्वाह किया है जिससे महिलाओं की मुक्ति के लिए और तेजी आयी है। नारीवादी महिला और पुरुष के बीच अन्तर को मूल विभाजन मानते हैं। विश्व के अधिकांश देशों में महिला मुक्ति के संघर्ष हुए हैं। बीसवीं सदी में महिलाओं और पुरुषों के बीच समानता को कानूनी मान्यता मिली और यह नारीवादियों के लिए मौलिकता के सवाल के रूप में समाने आया। जिसमें नारी मुक्ति के लिए पुरुषों के खिलाफ दृष्टिकोण उभर कर आया। जिसे अमेरिका में ब्लैक्स और भारत में दलित नारीवाद के उभार के रूप में देखा जा सकता है। क्योंकि नारीवादी आन्दोलन में कहीं न कहीं शोषित वर्ग की महिलाओं के हितों की अनदेखी हुई है। अलेक्जेन्द्र कोलन्ताई के अनुसार सामाजिक श्रम न्याय और बराबरी वाली दुनिया में कोई महिला समानता और वास्तविक आजादी हासिल कर सकती है (सुष्मिता, 2016)। नारीवादियों का मूल आधार शहरों में मध्य वर्ग और पूंजीवादी महिलाओं के बीच रहा है। इसमें आम गरीब महिलाओं के लिए संघर्ष देखने को नहीं मिला है। इसलिये गरीब, शोषित समाज की महिलाओं ने अपने हितों के लिए स्वयं संघर्ष करके अधिकार प्राप्त करने का प्रयास किया है।

नारीवादी दृष्टिकोण

किसी भी समाज व्यवस्था में सत्ता संरचनाएँ महिलाओं के लिए शोषणकारी स्थितियाँ पैदा करती हैं। नारी उत्पीड़न, शोषण की स्थिति से उबरने के लिए महिला सशक्तिकरण के रास्ते की खोज की गयी ताकि उनका विकास हो सके। महिलाओं के अधिकारों के लिए नारीवाद आन्दोलन सामने आया और राजनीतिक निर्णय में महिलाओं की भागीदारी के लिए आवाज उठाई। नारीवादी चिन्तकों ने राजनीति, प्रशासन और अन्य सत्ता संरचना में महिला प्रतिनिधित्व को आवश्यक माना। ऐनी फिलिप्स ने अपनी पुस्तक पॉलिटिक्स ऑफ प्रेजंस में महिलाओं के लिए आरक्षण की वकालात की और कहा कि महिलाओं के लिए निकायों में प्रतिनिधित्व की गारन्टी दी जानी चाहिए। लोकतान्त्रिक प्रणाली में सामाजिक समुदायों का प्रतिनिधित्व लोकतन्त्र के हित में होता है। नारीवादी नेतृत्व ने भी महिलाओं के आरक्षण की बात को बेहतर रास्ता माना है। पार्थ चटर्जी ने अपनी पुस्तक 'नेशन एण्ड इट्स वूमन' में कहा है कि भारतीय महिलाओं के लिए स्वतन्त्रता, जैसे - पढ़ाई करना, बाहर जाना, अन्य पुरुषों से बात करना के नियम-कानून की रूपरेखा देश का सांस्कृतिक राष्ट्रवाद तय कर रहा था जिसमें भारतीय पुरुषों की अहम भूमिका थी (पार्थ चटर्जी, 1993: 117)।

नारीवादी चाहते हैं कि कानूनी समानता, महिलाओं के लिए जरूरी है। उससे ही उनको उत्पीड़न, गुलामी और बन्धन से छुटकारा मिल सकता है। महिला आन्दोलन के बारे में रजनी देसाई कहती हैं कि महिला अपने आप में कोई वर्ग नहीं है वह अलग-अलग वर्गों से आती हैं इस कारण उनमें एकता के बावजूद एक खास वर्ग की महिला की माँग एक समान नहीं हो सकती है। इसीलिये तो अमेरिका और यूरोप के नारीवादी आन्दोलन में बिखराव हुआ क्योकि वहाँ नारीवादी आन्दोलन कुछ वर्ग की महिलाओं तक ही सीमित रह गया उनके हित आम महिला के हित नहीं बन पाये थे।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में अगर देखा जाये तो यहाँ भारतीय समाज के असमान विकास की वजह से पितृसत्तात्मक उत्पीड़न की विशेषता अलग-अलग वर्गों, जातियों, जनजातियों में अलग-अलग है। यहाँ यह नगर, शहर, कस्बों और गाँवों में अलग-अलग रूपों में सामने आता है। गाँव में सामन्ती पितृसत्ता का प्रमाण अधिक है जबकि शहरों में पूंजीवादी पितृसत्ता का रूप देखने को मिलता है। नारीवादी भारत की महिलाओं के बारे में कहते हैं कि निजी सम्पत्ति और एक विवाह प्रथा के द्वारा सामन्तवाद और पितृसत्तात्मक मूल्य अपने आप को बरकरार रखे हुए हैं। इसलिये निजी सम्पत्ति और जाति के उन्मूलन के लिए एक विवाह प्रथा का उन्मूलन महत्वपूर्ण है।

जाति विवाह की परम्परा का टूटना जाति के उन्मूलन में सहायक होगा। दलित विरोधी और महिला विरोधी व्यवस्था की जड़ें अर्द्धसामन्ती भूमि सम्बन्धों में हैं। जो ब्राह्मणवादी अर्द्धसामन्ती सत्ता को बनाये रखता है। इस प्रकार देश की सत्ता व्यवस्था को लोकतान्त्रिक मूल्यों पर आधारित नहीं बनाया जा सकता है। नारीवादी पितृसत्ता की मुक्ति से यौनिकता की मुक्ति मिलना सम्भव मानते हैं। उनके अनुसार स्वतन्त्र चुनाव पर आधारित यौनिकता ही प्रगतिशील और नैसर्गिक यौनिकता है। आदिम समाज से लेकर आज तक यह अलग-अलग समाजों में अलग अलग रही है। यौन व्यवहार जिसमें दो अलग-अलग लिंग एक समान व्यवहार में शामिल होते हैं किन्तु उसमें महिला स्वतन्त्रता दिखायी नहीं देती है। इसके लिए महिलाओं को सांस्कृतिक मूल्यों, आदर्शों और परम्पराओं से भी छुटकारा पाना जरूरी है (सुष्मिता, 2016)।

भारत में महिलाओं के शोषण को जाति संरचना ने जटिल बनाया है। ब्राह्मणवादी पितृसत्ता, निजी सम्पत्ति वाली जातियों में पुनर्विवाह की प्रथा पर पूरी तरह रोक लगाती है जबकि दलितों, पिछड़ों और आदिवासियों में पुनर्विवाह की प्रथा पहले से ही रही है। तथाकथित उच्च मानी जाने वाली जातियों की महिलाओं को पितृसत्तात्मक शोषण का शिकार होना पड़ा है किन्तु दलित, गरीब महिलाओं को पितृसत्तात्मक शोषण के साथ जमींदारों और सामन्तों के शोषण का भी शिकार होना पड़ता है। सामन्तवादी जातियाँ समाज में अपनी आर्थिक स्थिति और वर्चस्व के चलते यौन हिंसा किया करती हैं। हाल के वर्षों में सामाजिक जागरूकता और कड़े सरकारी कानूनों के चलते इसमें काफी कुछ बदलाव आया है।

ब्राह्मणवादी मूल्यों, आदर्शों और परम्पराओं पर आधारित सामाजिक संरचना में शारीरिक श्रम को दलितों और घर के कार्य को महिलाओं का कार्य समझा जाता रहा है। ऐसे मूल्यों और परम्परावादी विचारों के विरोध में बिहार में लेनिन के नाम से मशहूर बहुजन नायक जगदेव प्रसाद कुशवाहा ने नारा दिया था कि 'अबकी सावन भादों में, गोरी कलाइयाँ कादों में' तात्पर्य यह सन्देश था कि इस साल जब सावन-भादों के महीने में धान लगेगा तो दलित, पिछड़ी महिला ही नहीं बल्कि द्विज जाति की महिलाएँ भी खेतों में धान की रोपाई करेंगी। दलितों, पिछड़ों के मसीहा की यह बात सामन्ती जातियों को नागवार गुजरी और उन्होंने सत्ता से मिलकर आम सभा में जगदेव प्रसाद कुशवाहा की इन्दिरा गाँधी के शासनकाल में गोली मारकर हत्या कर दी। इस प्रकार सामन्तवादी व्यवस्था के खिलाफ उठी आवाज सत्ता संरचना द्वारा दबाने की कोशिश की जाती रही है।

अमेरिका, रूस, फ्रांस और चीन में महिला अधिकारों के लिए काफी प्रयास हुआ है। महिलाओं के सवाल पर द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस में तमाम विरोधों के बावजूद भी अलग से महिला संगठन बनाने की वकालत की थी और बाद के मार्क्सवादियों और लेनिनवादियों ने इसको स्वीकार किया था। महिला अधिकारों के लिए नारीवादियों ने 1970 और 1980 के दशक में मजबूत मुकाम हासिल कर दिया था। महिला मुक्ति के लिए रोबॉथम (1972) ने कहा कि "महिलाएँ अभी भी एक ऐसी दुनिया का हिस्सा हैं जो पुरुषों के द्वारा नियन्त्रित है और इसे पुरुषों के नजरिये से देखा और समझा गया है।"

नारीवादी जमात पुरुषों की बराबरी चाहती है जबकि जरूरत इस बात की है कि किसी प्रकार का शोषण अगर समाज में मौजूद है तो उसका खात्मा होना चाहिए। समाज में असमानता समाप्त करने वाले कानून चाहिए। पितृसत्तात्मक नियम, आदर्श, परम्पराएँ जो समाज के विरोधी हैं उन्हें जब तक समाप्त नहीं किया जायेगा तब तक नारी मुक्ति की बात करना उचित नहीं है। इसलिये सामाजिक संरचना में परिवर्तन के लिए उत्पीड़ित सभी समूहों को मूल्यों, आदर्शों और परम्पराओं का उन्मूलन करना होगा तभी महिलाओं के लिए समता स्थापित हो सकेगी (सुस्मिता, 2016)।

बदलते समय के साथ नारीवादी आन्दोलन और महिला संगठनों ने महिला अधिकारों की माँग शुरू की और राज्य से हस्तक्षेप की अपेक्षा होने लगी ताकि इन अधिकारों का पूर्ण लाभ महिलाओं को मिल सके। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर महिला अधिकारों के प्रति संजीदगी बढ़ने के कारण भारतीय राज्य भी अपनी नीतियों में बदलाव के लिए मजबूर हुआ और महिला अधिकारों से सम्बन्धित अनेक कानूनों को भारतीय संसद द्वारा पारित करके लागू किया गया है (अग्रवाल, 2016)।

नारीवादी आन्दोलन ने जिस प्रकार पश्चिमी दुनिया के लिए और नस्ल आधारित भेदभाव को सामने लाने का कार्य किया ठीक उसी प्रकार भारतीय सन्दर्भ में भी जाति और लिंग आधारित भेदभाव पर भी आवाज उठी है। नारीवाद में पश्चिम में अश्वेत नारीवाद और भारत में दलित नारीवाद भी समकालीन समय में उभरकर आया है क्योंकि नारीवाद सम्पूर्ण

महिलाओं का समाधान नहीं ढूँढ सका है। नारीवाद पश्चिमी और भारतीय सन्दर्भ में केवल कुछ कुलीन महिलाओं का आन्दोलन बनकर रह गया दिखाई देता है। इसलिये नारीवादी इतिहासकार गर्डा लर्नर और उमा चक्रवर्ती ने महिलाओं के बीच नस्लीय और जातीय अन्तर को अपने दृष्टिकोण से देखने का कार्य किया है (झा, 2016)।

सोवियत समाजवादी व्यवस्था में महिलाओं को घरेलू काम से मुक्त करने और विवाह सम्बन्धी नियमों में परिवर्तन करने के लिए आवाज आयी। पुरुषों के बराबर सभी अधिकार महिलाओं को मिलना जरूरी है। इसके लिए अलेक्जेन्द्र कोलन्ताई ने आवाज उठायी थी क्योकि वह मार्क्स एंजेल्स के सिद्धान्त को सन्देह की नजर से देखती थीं। जबकि वह समाजवादी व्यवस्था में कार्ययोजना और कार्यक्रम निर्माण करने की भूमिका निभा रही थीं। मार्क्सवादी एंजेल्स ने उत्पादन को प्राथमिक स्थान दिया जबकि प्रजनन और उत्पादन दोनों आपस में जुड़े हुए हैं। उग्र सुधारवादी नारीवादियों ने प्रजनन को प्राथमिक स्थान पर रखा है जबकि अमरीकी नारीवादी केट मिलेट ने प्रजनन को उत्पादन से अलग रखने की बात पर जोर दिया। मार्क्सवादी दर्शन में भी महिला अधिकारों के लिए अलग से बहु-आयामिता नजर-अन्दाज होती रही। हालाकि मार्क्स, एंजेल और लेनिन ने महिलाओं के प्रश्न को हल करने की कोशिश की थी। नारी की पराधीनता, यौनिकता और प्रजनन के मामले को उचित नहीं माना है।

नारीवादियों के लिए यह बहुत कठिन है कि समतावादी समाज के निर्माण के लिए कैसे आगे बढ़ा जाये क्योंकि नस्ल, वर्ग और जाति के आधार पर विभाजित स्त्री और पुरुष को एक साथ किस प्रकार से समायोजित किया जाये। नारीवाद में लिंग आधारित सत्ता सम्बन्ध के सामने वर्ग, नस्ल और जाति के सम्बन्धों की उपेक्षा ठीक उसी प्रकार से की गयी है जिस प्रकार से मार्क्सवाद में वर्ग जाति और नस्ल के आधार पर अन्तर किया गया है किन्तु महिला अधिकारों के लिए नारीवाद ने अपनी समझ को व्यापक रूप से गतिशील बनाने का कार्य किया है। उमा चक्रवर्ती के अनुसार "भारत में अधिकतर क्षेत्रों में जड़ जमा चुकी इस पितृसत्तात्मक संरचना की अलग पहचान चिह्नित करने के लिए ब्राह्मणवादी पितृसत्ता जैसी अभिव्यक्ति का प्रयोग उचित है। यह वस्तुत: नियमों और संस्थानों का ऐसा पुंज है जिसमें जाति और लिंग एक दूसरे से गुथे हुए हैं और एक दूसरे का स्वरूप तय करते हैं जिसमें स्त्री जातियों के बीच का पदानुक्रम बनाये रखने के लिए बतौर साधन इस्तेमाल होती है।"

पुरुषों की ओर से विकसित किया गया महिलाओं के समर्थन में सबसे अधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त माना जाता है। इसलिये नारीवाद का मार्क्सवाद से संवाद भी रहा है। इसकी भी अपूर्णता तब सामने आयी जब अश्वेत नारीवादियों द्वारा अश्वेत महिलाओं के ऊपर एक साथ नस्लीय और पितृसत्ता की मिलीजुली मार पड़ने के अनुभव बहुत ही खराब सामने आये। नस्लभेद, लिंगभेद और वर्गभेद की सभी सत्ताएँ एक दूसरे का पोषण करती हैं। इसलिये नारीवादी इतिहासकार गर्डा लर्नर मानती है कि यह एक ही दमनचक्र के विभिन्न आयाम हैं। भारत में जाति व्यवस्था की दलित चिन्तकों ने जो समझ विकसित की उसमें स्त्री की

पराधीनता और जाति के बीच का गठबन्धन स्पष्ट रूप से सामने आया है। महात्मा ज्योतिबा फुले ने दलितों और पिछड़ों तथा सभी स्त्रियों को ब्राह्मणों द्वारा खड़ी की गयी व्यवस्था में शोषित की तरह देखा है (श्रीनिवास, 1977: 221)।

भारत में द्विज जातियों की विधवा नारियों और दलित पिछड़ी औरतों की दयनीय दशा एवं शोषण का कारण ब्राह्मणों द्वारा बनायी गयी सामाजिक व्यवस्था को ही जिम्मेदार माना है। ज्योतिबा फुले बहुजन समाज के लोगों पर जुल्म और अत्याचार के खिलाफ बगावत की आवाज बने थे। तत्कालीन समय में वंचित समाज में फुले जैसा नायक उभरना और परम्परावादी ब्राह्मणवादी व्यवस्था में बहुजनों का शोषण होता था। उसके विरुद्ध समतावादी, न्यायपरक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण पर आधारित व्यवस्था बनाने की पृष्ठभूमि तैयार की थी। इसलिये फुले को विख्यात अम्बेडकरवादी विचारक गेल ओमवेट ने पहले जाति के ऐतिहासिक भौतिकवादी सिद्धान्तकार के रूप में देखा है (झा, 2016)।

बहुजनों को गुलामों की स्थिति में डालने वाले प्रतिमानों और धारणाओं के आलोचक रामास्वामी पेरियार ने माना कि ब्राह्मणवाद ने बहुजनों और औरतों को दासता की स्थिति में डाल दिया है। जाति और लिंग के जुड़ाव को बाबासाहेब अम्बेडकर ने स्वीकार किया है। नारीवादी आन्दोलन और दलित आन्दोलन को जाति एवं लिंग के जुड़ाव आधारित विरासत को लेकर चलना चाहिए किन्तु इन आन्दोलनों में कहीं न कहीं चूक अवश्य हुई है नहीं तो दलित नारीवादी आन्दोलन का उभार नहीं हुआ होता। अमेरीका, यूरोप में अश्वेत नारीवाद का उभरना और भारत में दलित नारीवाद का आगाज होना दोनों यह प्रमाणित करते हैं कि नारीवाद अपने लक्ष्य से कहीं न कहीं विमुख जरूर हुआ है क्योंकि नारीवाद सभी महिलाओं की समस्याओं का समाधान करने में सफल नहीं हो पाया है।

नारीवाद का जिक्र आते ही फ्रांस और भारत में महिला सशक्तिकरण की दिशा में जो बहस होती है उसमें एक जैसे विचार नहीं दिखाई देते हैं क्योंकि महिलाओं के लिए नस्ल या लिंग का सवाल आते ही वहाँ की नागरिकता के प्रतिमान पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने का खतरा दिखायी देने लगता है। जबकि भारत में महिला आरक्षण पर सीधे कोई विरोध नजर नहीं आता है। अगर विरोध नजर आता है तो वह उसके तरीके को लेकर है, क्योंकि महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी में दलित, पिछड़ी महिलाओं का प्रतिनिधित्व भी जरूरी है ऐसा कुछ राजनीतिक दलों का मानना है। लाजिमी भी है कि जाति आधारित समाज व्यवस्था में बिना वर्ग किये महिला आरक्षण वाजिब महिलाओं तक नहीं पहुँच सकेगा।

भारत में नारीवाद अपने लम्बे सफर में पश्चिमी नारीवाद का प्रतिरूप ही दिखाई देता रहा है। लगभग चार दशकों में भारत में नारीवाद का विकास हुआ उससे यही लगता है कि नारीवाद में कोई एक विचारधारा कार्य नहीं करती है। बल्कि वह कई रूपों में हमारे सामने आयी है जिसमें पश्चिमी दुनिया में अश्वेत नारीवाद, समलैगिंक महिलाओं (लेस्बियन) का नारीवाद और दलित महिलाओं का नारीवाद भारतीय परिप्रेक्ष्य में आया है। "उन्नीसवीं-बीसवीं सदी के दौर में जब पश्चिम में नारीवाद का उदय हुआ तब बाकी दुनिया में ऐसी कोई

अवधारणा मौजूद नहीं थी जबकि भारत में उसी समय ताराबाई शिन्दे, सावित्रीबाई फुले, मुक्ताबाई साल्वे जैसी महिलाएँ नारीवादी सवाल उठा रही थीं" (उर्वशी बुटालिया, 2017: 94)। भारतीय नारीवाद और पश्चिम के नारीवाद में अन्तर दिखायी देता है। महिला आरक्षण पर परिचर्चा फ्रांस और भारत में अलग-अलग तरीके से होती है। धर्म आधारित नारीवाद पाकिस्तान के परिप्रेक्ष्य में नजर डालने से यह बात सामने आती है कि पश्चिमी नारीवाद से पाकिस्तानी नारीवाद में बहुत अधिक भिन्नता पायी जाती है (उर्वशी बुटालिया, 2017 : 94)।

अम्बेडकरवादी नारीवादी रजनी तिलक के अनुसार बौद्ध धर्म की थेरिगाथा में महिलाओं के दमन, जातिगत भेदभाव और पितृसत्ता के प्रति उसके रोष को प्रभावशाील ढंग से अभिव्यक्ति किया गया है। आधुनिक भारत में सावित्री बाई फुले ने बालिकाओं को पढ़ाने के लिए स्कूल खुलवाये थे जिसमें पितृसत्ता को चुनौती दी जा रही थी क्योंकि महिलाओं को शिक्षा से दूर रखना पुरुष वर्चस्वशीलता को कायम रखता था। फुले दम्पती के पुणे स्कूल में सर्वप्रथम पाँच ब्राह्मण, दो माँग, एक मतंग मिलाकर कुल आठ बालिकाएँ पढ़ने स्कूल आती थीं। इस प्रकार फुले दम्पती के स्कूल में सभी जाति की बालिकाएँ शिक्षा पाती थीं। बाद में जब डॉ. अम्बेडकर के जाति विरोधी संघर्ष में भागीदारी करने वाली महिलाएँ नारीवादी दृष्टिकोण अपनाकर अपनी माँगें उठा रही थीं। जिसमें समान शिक्षा, विधायिकाओं में स्थान, बालिका छात्रावास आदि प्रमुख माँगें शामिल थीं, भारतीय नारीवाद की बहती धारा में दलित महिलाओं के मुद्दे सही ढंग से उभर नहीं सके। इसलिये दलित महिलाओं के मुद्दे ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के साथ-साथ हिन्दू धर्म की परम्पराओं पर सवाल उठाती है (रजनी तिलक, 2017 : 96)।

भारतीय समाज में महिलाओं ने अपने अधिकारों के लिए बहुत लम्बे समय से संघर्ष किया है किन्तु उसको लिखित इतिहास के दस्तावेज में सुरक्षित नहीं किया जा सका। इसलिये दलित नारीवाद अपने अधिकारों के लिए नारीवादी आन्दोलन में जगह बनाने में सफल नहीं हो पाया है। भारतीय नारीवाद बौद्धकाल से लेकर समकालीन समय में निरन्तर मौजूद रहा है। महिला अधिकारों को डॉ. अम्बेडकर ने अपने लेखन में स्थान दिया है और महिलाओं के प्रश्नों पर हमेशा उनकी वकालत की है। महिला अधिकारों के मसले पर बाबासाहेब की भूमिका आधुनिक मूल्यों, विश्वासों, विचारों पर आधारित रही है। दलित महिलाओं का प्रश्न धार्मिक संकीर्णता का रहा है। जिसके कारण दलित महिलाओं का प्रतिदिन किसी न किसी कारण उत्पीड़न होता है और उनको पानी पीने, अच्छे कपड़े पहनने और अपने बच्चों को शिक्षा प्रदान करने तथा गरिमापूर्ण जीवन जीने की सम्भावना आहत होती है। इस प्रकार दलित महिलाओं का आन्दोलन ब्राह्मणवादी पितृसत्ता और धर्मिक मूल्यों पर प्रश्न खड़ा करता रहा है। भारत में नारीवादी आन्दोलन की गति हमेशा धीमी रही है क्योंकि पितृसत्ता के विरोध में आवाज उठाने वाली महिलाओं को ठीक नहीं माना जाता है। भारतीय समाज में पुरुष ही नहीं अधिकांश महिलाएँ मानती हैं कि पितृसत्ता का विरोध करने वाली महिलाओं से घर और समाज का ताना-बाना बिगड़ रहा है।

भारत की आजादी के आन्दोलन के समय अनेक समुदाय अपनी-अपनी आजादी के लिए लड़ रहे थे। बाबासाहेब अम्बेडकर के नेतृत्व में सामाजिक न्याय की लड़ाई लड़ी जा रही थी और जब भारतीय संविधान का निर्माण हुआ तो उसमें सभी लोगों को अधिकार दिलाने की कोशिश की गयी। साथ ही परिवार और समाज की असमानताओं को तोड़ने की कोशिश की गयी। किन्तु व्यवहारिक धरातल पर आज भी सभी को मानवीय अधिकार हासिल नहीं हो पाये हैं। भारत के संविधान में महिला-पुरुष उपेक्षित समुदायों को बराबरी के अधिकार दिये हैं परन्तु उनको यथार्थ की धरातल पर लागू नहीं किया जा सका है क्योंकि संविधान के अनुसार भारत का निर्माण करने के लिए जिनको शासन, प्रशासन एवं संस्थाओं में बैठाया गया था वह अधिकांश लोग परम्परावादी सामन्तवादी यथास्थितिवादी मनोवृत्ति के लोग सिद्ध हुए। उन्होंने प्रगतिशील, वैज्ञानिक दृष्टिकोण और इंसानियतवादी आधार पर निकायों को नहीं चलवाया इसलिये आज भी संविधान प्रदत्त मानवीय अधिकार आम लोगों को नहीं मिल पाये हैं।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में नारीवाद का ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के विरोध में संघर्ष करना भी नारीवादी आन्दोलन में आता है। असमानता, अवैज्ञानिकता और गैरमानवीय आचरण जो दलित महिलाओं के साथ सामन्ती समाज करता था उसके विरोध में नारीवाद की आवाज मुखर रूप से नजर आनी चाहिए थी किन्तु ऐसा हुआ नहीं। मसलन देवदासी प्रथा की परम्परा दलित समुदाय के लोगों में दक्षिण भारत में आज भी दिखायी पड़ती है। जोगिनी और बेडिनी भी दलित समुदाय में मिलती है।

उत्तर प्रदेश और मध्यप्रदेश में ये बेड़िया समुदाय पाये जाते है जो मातृसत्तात्मक परिवार होते हैं किन्तु वह किसी न किसी की रखैल महिलाएँ होती हैं। बाबासाहेब अम्बेडकर के पूर्व विश्वराम काम्बले और शिबूबाई ने मुहिम चलायी कि परिवार की बड़ी बेटी को देवदासी न बनाया जाये। देवदासी दो प्रकार की होती हैं। एक मन्दिर में रहती हैं और दूसरी इधर-उधर घूमकर गाना और नाच करके जीविकोपार्जन करती हैं। बेड़नी समुदाय की औरतें नर्तकी होती हैं। दलित महिलाओं के पास शिक्षा और संसाधनों का अभाव रहा है। आज स्थितियाँ बदल चुकी हैं। पहले महिलाएँ अपनी बात सही तरीके से नहीं कह पाती थीं। भारत में नारीवाद का पूरा तौर-तरीका उच्चवर्गीय रहा है। जहाँ पर दलित महिलाएँ सहमी-सी नजर आती हैं और वह वहाँ पर स्वयं को उपेक्षित महसूस करती हैं। इस प्रकार नारीवादी आन्दोलन का रवैया संकीर्ण दिखायी देता है। "भारत में नारीवाद धीरे-धीरे विकसित हुआ है। आपस में बहस करते हुए, लड़ते हुए नारीवाद ने बहुत सीखा है। अगर नारीवाद का कोई मजबूत पक्ष है तो वह यही है कि हिन्दुत्व के खिलाफ लड़ाई में सभी उत्पीड़ित एक होंगे" (निवेदिता मेनन, 2017 : 107)। भारतीय समाज में दलित नारीवाद का मानना है कि हमें परिवार चाहिए किन्तु पितृसत्तात्मक नहीं लोकतान्त्रिक परिवार चाहिए। हमें राज्य भी चाहिए वह भी लोकतान्त्रिक होना चाहिए" (रजनी तिलक, 2017 : 96)।

भारतीय नारीवाद सवर्ण महिलाओं का आन्दोलन बनकर रह गया है। जिस प्रकार पश्चिमी नारीवाद में श्वेत महिलाओं का वर्चस्व रहा है। ठीक उसी प्रकार भारतीय नारीवाद में

सवर्ण महिलाओं का बोलबाला रहा है। सम्भ्रान्त वर्ग की महिलाओं के हित ही सभी महिलाओं के हित नहीं हो सकते। इसलिये दलित नारीवाद उभरकर सामने आया है। दलित नारीवाद के विकास में अनेक महिलाओं ने अपनी भूमिका निभायी है। जिसमें आशा कोटल, विमल थोरात, अनीता भारती, रजनी तिलक, शर्मिला रेगे प्रमुख हैं। दलित नारीवादी शर्मिला रेगे की 2013 में प्रकाशित पुस्तक 'अगेंस्ट द मैडनेस ऑफ मनु' में उन्होने दलित नारीवादी आन्दोलन और बाबासाहेब अम्बेडकर के महिलावादी दृष्टिकोण पर अपने विचारों को स्थान दिया है। साथ ही यह विश्लेषित किया है कि किस प्रकार दलित महिलाओं की समस्याओं को नारीवादी नेतृत्व नजर अन्दाज करता रहा है। दलित महिलाओं के दु:खों और शोषण, उत्पीड़न के प्रति नारीवादी नेतृत्व का रवैया संवेदनहीनता वाला तथा चिन्ताजनक रहा है। पश्चिमी जगत की तरह ही भारत में नारीवादी चिन्तकों ने साम्यवादी और अम्बेडकरवादी चिन्तकों के साथ संवाद करते हुए जाति, वर्ग और लिंग के आपसी सम्बन्ध को एक सूत्र में पिरोने की कोशिश शुरू की है। नारीवादी उमा चक्रवर्ती का मानना है कि ब्राह्मणवादी पितृसत्ता का प्रतिमान जाति आधारित समाज व्यवस्था की पितृसत्ता है (चक्रवर्ती, 1993)।

महिलाओं की दासता का कारण भारतीय समाज में ब्राह्मणवादी पितृसत्ता की संरचना हैं जिसके सामाजिक, सांस्कृतिक मूल्य, परम्परा और आदर्श महिला मानवाधिकार विरोधी रहे हैं। किस महिला को किस जाति में विवाह करना है। यह ब्राह्मणवादी पितृसत्ता व्यवस्था ने महिलाओं पर थोप दिया है। जाति की स्थिति के अनुसार महिलाओं पर आचरण तय किया जाता है। और नियम कानून बनाने का अधिकार तथाकथित अपने को उच्च समझने वाली जातियों के पास रहा है जिनको महिलाओं ने स्वीकार भी किया है। ब्राह्मणवादी पितृसत्ता, ब्राह्मणवादी आचार, विचार और परम्पराओं की संहिता रूपी नियम हैं। जिसको समाज पर राजसत्ताओं द्वारा लादा गया है। जिसे राज्य के नागरिकों द्वारा दबाव में स्वीकार किया गया है (झा, 2016)।

सामन्तवादी ब्राह्मणवादी पितृसत्ता का सामाजिक व्यवस्था में बहुजन जातियों का श्रम का शोषण और महिलाओं का शारीरिक शोषण की कहानी भी ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था ही रही है। द्विज जातियों और बहुजन जातियों की स्त्रियों के लिए निबाह कानून अलग-अलग तरीका से होने का भी श्रम के दोहन का गहरा सम्बन्ध है। ब्राह्मणवादी जातियों में महिला के विधवा होने पर विवाह की पाबन्दी है और बहुजन जाातियों की औरतों के लिए पुन: विवाह ही नहीं बल्कि उनके साथ जबरन सहवास की सम्भावना खुली रखी गयी थी। जिसका ब्राह्मणवादी सामाजिक व्यवस्था द्वारा स्वीकार किया गया है। दलित महिलाएँ द्विज जमीदारों के हवस का शिकार हुआ करती थीं। जिसका कारण उनकी आजीविका के लिए द्विज के घरों और खेतों में कार्य करने की मजबूरी रही है। साथ ही ब्राह्मणवादी व्यवस्था में जहाँ एक ओर जमींदार दलित स्त्री का शोषक था तो दूसरी ओर घर में उसका पति भी शोषण करता था। तीसरे ब्राह्मणवादी पितृसत्ता द्वारा दलित स्त्री का शोषण होता रहा है।

निष्कर्ष

पश्चिमी दुनिया की अश्वेत नारी द्वारा विकसित प्रतिमान को दलित नारी द्वारा स्वीकार किया गया है। अश्वेत नारीवाद का प्रभाव दलित नारीवाद पर पड़ना लाजमी है। क्योंकि पश्चिमी नारीवाद में अश्वेत औरतों के मुद्दों को नजर-अन्दाज किया गया। उसी प्रकार भारतीय नारीवाद में दलित औरतों के मुद्दे गायब रहे हैं। अश्वेत अधिकार आन्दोलन और दलित अधिकार आन्दोलन राजनीति से प्रभावित रहे। जिसका असर अश्वेत नारीवाद और दलित नारीवाद पर स्पष्ट दिखलायी देता है। अतएव स्पष्ट हो जाता है कि दलित नारीवाद का आगाज भारतीय परिप्रेक्ष्य में इसलिये हुआ है क्योंकि भारतीय नारीवादी आन्दोलन में शामिल नेतृत्व में दलित नारी के मसलों को अपने आन्दोलन में हाशिये पर रखा है। पश्चिम में अश्वेत नारीवाद के उभार में भी ठीक इसी प्रकार के कारण नारीवाद के भीतर मौजूद थे। समकालीन स्थिति में नारीवादी आन्दोलन अनेक चुनौतियों का सामना करते हुए महिला अधिकारों के लिए कार्य कर रहा है जो महिलाओं को पुरुष प्रधान दासता मूलक सामाजिक संरचना में मौजूद नियम परम्पराओं और मूल्यों को बदल कर महिलाओं की मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करेगा। नारीवाद मानता है कि यह व्यक्तिगत राजनीति है किन्तु जो राजनीति है वह एक समुदाय से जुड़ी हुई है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में देखने में आया है कि दलित महिला का मामला आने पर गैर दलित नारीवादी आलोचनात्मक विचार नहीं रख पाती हैं। दलित महिला आन्दोलन में भी घरेलू हिंसा पर बात बहुत कम होती है। दलित महिला आन्दोलन में सवर्ण पुरुषों द्वारा दलित महिलाओं के शरीर पर होने वाली हिंसा की तो बात होती है किन्तु दलित पुरुषों द्वारा दलित महिलाओं पर होने वाली हिंसा की उपेक्षा की जाती है। नारीवादी आन्दोलन में अभी हम उस मुकाम तक नहीं पहुँचे हैं जहाँ मुद्दों को तैयार करने की जिम्मेदारी दलित या मुस्लिम महिला के हाथों में हो और वह निर्णय करे कि दलित मसलों और मुस्लिम मसलों पर अलग से विचार हो और उसमें तय किया जाये कि नारीवादी आन्दोलन की एकजुटता के लिए कार्य करना जरूरी है। तभी हम महिला अधिकारों के लिए लड़ाई लड़ सकते हैं।

सन्दर्भ सूची

अग्रवाल, रोहिणी (2016) *प्रतिमान,* जनवरी-जून, अंक 7, दिल्ली, पृष्ठ 317.

चक्रवर्ती, उमा (1993) 'कन्सेप्च्युलाइजिन्ग ब्राह्मिनिकल पैट्रियार्की इन अर्ली इंडिया : जेंडर, कास्ट, क्लास एंड स्टेट', *इकॉनामिक एण्ड पॉलिटिकल वीकली,* 3 अप्रैल.

चटर्जी, पार्थ (1993) *द नेशन एंड इट्स फ्रैगमेंट्स: कोलोनियल एंड पोस्टकोलोनियल हिस्ट्रीज़,* प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस.

झा, विजय (2016) *प्रतिमान,* जनवरी-जून, अंक 7, दिल्ली.

तिलक, रजनी (2017) *सावित्रीबाई फुले रचना समग्र,* द मार्जिनलाइज़्ड पब्लिकेशन, नई दिल्ली.

बुटालिया, उर्वशी, (2017) *द अदर साइड ऑफ साइलेंस : वॉइस फ्रॉम द पार्टिशन ऑफ इंडिया,* पेंगुइन रैंडम हाउस इंडिया.

मेनन निवेदिता (2012) *सीइंग लाइक ए फेमेनिस्ट*, पेंगुइन, लन्दन.

श्रीनिवास, एम.एन. (1977) *डाइमेंशन्स ऑफ सोशल चेंज इन इंडिया,* एलाइड पब्लिशर्स, बॉम्बे.

सुष्मिता, (2016) 'नारीवादी मार्क्सवाद - नारी मुक्ति', *फिलहाल,* अप्रैल-2016, दिल्ली.

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 18, संयुक्तांक, जनवरी-दिसम्बर 2020, पृ. 89-101)

वृद्धजनों की सामाजिक सुरक्षा : समसामयिक विश्लेषण

जितेन्द्र सेन*

वृद्धजनों की बढ़ती अबादी विकासशील और विकसित देशों के नीति निर्धारिकों के लिए चिन्ता का विषय बन गयी है। औसत आयु में वृद्धि ने सामाजिक सुरक्षा के समस्त पहलुओं पर सरकारों का ध्यान आकर्षित किया है। वृद्धावस्था में देखभाल की स्थिति एवं अन्य पक्षों को अधिक विचारणीय बना दिया है। वृद्धावस्था में कठिन परिश्रम करना भी उनके लिए सम्भव नहीं होता है। अत: भारत की जनसंख्या में तेजी से वृद्धों की बढ़ती स्थिति उनके लिए बेहतर सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था की आवश्यकता की ओर इंगित करती है। वर्तमान समय में भारत मे युवाओं की जनसंख्या अधिक है किन्तु लगातार वृद्धजनों की जनसंख्या में बढ़ोतरी देखी जा रही है। अब भारत वृद्धजनों की बढ़ती अबादी वाला देश होने की ओर बढ़ चला है। वर्तमान मे सामाजिक बदलावों ने वृद्धजनों की सामाजिक सुरक्षा विषयक स्थिति को अधिक चिन्तनीय बना दिया है। प्रस्तुत शोधपत्र में द्वितीयक तथ्यों के आधार पर वर्तमान समय में वृद्धजनों की सामाजिक सुरक्षा से सम्बन्धित पक्षों का समसामयिक विश्लेषण किया गया है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। सामाजिक प्राणी होने के कारण उसकी अनेक आवश्यकताएँ हैं। वह कभी दूसरों को आश्रय प्रदान करता है तो कभी स्वयं ही उसे दूसरों पर

*आयसीएसएसआर डॉक्टोरल फैलो (समाजशास्त्र), म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, उज्जैन (म.प्र.)
E-mail: senj350@gmail.com

आश्रित रहना पड़ता है। अधिकांश व्यक्तियो को जीवन मे वृद्धावस्था की स्थिति में दूसरों पर अधिक निर्भर रहना होता है। भारतीय समाज में वृद्धजनों का हमेशा एक सम्मानीय स्थान रहा है। एक मार्गदर्शक और पारिवारिक मुखिया होने के नाते जो सम्मान पारम्परिक रूप से वृद्धजनों को मिलता था, उसमें धीरे-धीरे कमीं आ रही है। एक सदी पहले लोगों का 75 साल का होना अपवाद हुआ करता था। वर्तमान समय में इस उम्र के व्यक्ति अधिकतर स्वस्थ होते हैं और सामान्य जिन्दगी जीते हैं। भारत मे वृद्धावस्था की संकल्पना सुखमय और सम्मानजनक स्थिति मे जीवन-यापन करने के रूप में की जाती रही है परन्तु बढ़ती उम्र एवं पारम्परिक पारिवारिक सम्बन्धों में बदलाव ने वृद्धजनों की देखभाल को अधिक चिन्तनीय बना दिया है। वृद्धजनों को आधुनिक युग में अनेक प्रकार की अनिश्चितता रहती है। इन अनिश्चितता से मुक्ति दिलाने के लिए यह आवश्यक है कि वृद्धजनों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान की जाये (कृष्ण कुमार, 1988)।

देश में सामाजिक सुरक्षा परिवार की जिम्मेदारी मानी जाती है क्योंकि वृद्धावस्था में अधिकांश लोग अपने परिवार और बच्चों के साथ रहते हैं। किन्तु अब संयुक्त परिवार के विघटन और समाज में एकल परिवार के चलन की अधिकता हो गयी है जिससे भारतीय समाज में पति-पत्नी और बच्चे संकुचित दायरे में सिमट कर रह गये हैं (गुप्ता एवं शर्मा, 2009)। भारत में सामाजिक सुरक्षा सेवाएँ विभिन्न रूपों में प्रदान की जाती हैं तथापि उनका स्तर अन्य विकसित देशों जैसे इंग्लैंड, अमेरिका, जर्मनी और जापान की अपेक्षा कहीं निम्न है। विकसित देशों में सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रमों को देश की गरीबी, बेरोजगारी तथा वृद्धावस्था, बीमारी का उन्मूलन करने की दृष्टि से राष्ट्रीय योजना का अभिन्न तथा महत्वपूर्ण अंग माना गया है (कार एवं महापात्रा, 2019)। निम्नलिखित विचारों से सामाजिक सुरक्षा का महत्व अधिक स्पष्ट हो जाता है -

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के अनुसार "वह सुरक्षा जो समाज, उचित संगठनों के माध्यम से अपने सदस्यों के साथ घटित होने वाली कुछ घटनाओं और जोखिमों से बचाव के लिए प्रस्तुत करता है, 'सामाजिक सुरक्षा' है। ये जोखिमें बीमारी, मातृत्व, आरोग्यता, वृद्धावस्था तथा मृत्यु हैं। इन सन्दिग्धताओं की यह विशेषता होती है कि व्यक्ति को अपना तथा अपने परिवार का भरण-पोषण करने के लिए नियोक्ताओं द्वारा सुरक्षा प्रदान की जाये" (विकीपेडिया, 2020)।

सामाजिक सुरक्षा समिति, संयुक्त राज्य अमेरिका के अनुसार "वर्तमान रोजगार, रोजगार तथा कार्य की उचित दशाएँ प्राप्त करने और सेवानिवृत्ति के लिए सुरक्षा, आत्म-विकास, चिकित्सा एवं स्वास्थ्य सहायता, बेरोजगारी तथा अयोग्यता की स्थिति में आय की निरन्तरता, दुर्घटना के समय व्यक्ति के परिवार की सुरक्षा, अयोग्यता, बीमारी या मृत्यु के समय परिवार की सुरक्षा आदि सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रम के अन्तर्गत सम्मिलित किये जाते हैं" (संयुक्त राष्ट्र, 2008)।

बैवरिज के अनुसार "तुम जितने गरीब हो, उतनी ही सामाजिक सुरक्षा की अधिक आवश्यकता तुम्हें होगी। अच्छे स्वास्थ्य से कार्य की क्षमता बढ़ती है। वास्तव में राष्ट्रीय समृद्धि को बढ़ाने के लिए यह एक साधन है। सामाजिक बीमा एक ऐसी छत है जो प्रजातन्त्र के उद्देश्य को सही अर्थ में प्रस्तुत करती है तथा प्रगति के मार्ग को प्रशस्त करती है" (बेवरिज, 1942)।

वृद्धावस्था सामाजिक सुरक्षा का इतिहास

जर्मनी विश्व का वह पहला देश बना जिसने वृद्धावस्था सामाजिक बीमा कार्यक्रम 120 वर्ष पूर्व ब्रुसेल्स में शुरू किया था। इस कार्यक्रम के योजनाकार ऑटो वॉन बिस्मार्क थे। इस कार्यक्रम को वर्ष 1941 में अटलांटिक चार्टर के तहत, इसे इंटरनेशनल सोशल सिक्योरिटी एसोसिएशन मे मंजूर किया गया था (श्रम की दुनिया, 2010:2)।

'सामाजिक सुरक्षा' शब्द का उद्गम औपचारिक रूप से सन् 1935 से माना जाता है, जब प्रथम बार अमेरिका में सामाजिक सुरक्षा अधिनियम पारित किया गया। इसी वर्ष बेरोजगारी, बीमारी तथा वृद्धावस्था बीमा की समस्या का समाधान करने के लिए सामाजिक सुरक्षा बोर्ड का गठन किया गया। तीन वर्ष बाद सन् 1938 में 'सामाजिक सुरक्षा' शब्द का प्रयोग न्यूजीलैण्ड में किया गया जब पहली बार बड़े पैमाने पर यह योजना लागू की गयी। सन् 1941 में अटलांटिक चार्टर के अन्तर्गत सभी देशों को उद्योग के सभी क्षेत्रों में सामाजिक सुरक्षा को प्रोत्साहित करने को कहा गया। जिससे श्रमिकों के रहन-सहन के स्तर तथा उनकी आर्थिक दशा में सुधार हो सके। सन् 1943 में सर विलियम बैवरिज द्वारा एक नयी योजना बनायी गयी। उन्होंने अपनी रिपोर्ट सामाजिक बीमा एवं सम्बन्धित सेवाएँ के अन्तर्गत ब्रिटिश जनता को अभाव से मुक्ति दिलाने के लिए सामाजिक सुरक्षा योजनाएँ बनाने का सुझाव दिया (बटलर, 2007)।

संयुक्त राष्ट्र महासभा ने प्रथम विश्व युद्ध के बाद मानवाधिकारों के तहत समाज के अनेक क्षेत्रों के लिए सार्वभौमिक घोषणापत्र को स्वीकृत किया। जिससे बीमा योजनाओं को तेजी से विकसित किया गया। इसके अनुच्छेद 22 में कहा गया कि प्रत्येक व्यक्ति को समाज का एक सदस्य होने के नाते सामाजिक सुरक्षा का अधिकार है। वर्ष 1952 में, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने सामाजिक सुरक्षा सिकनेस इंश्योरेंस फंड्स सहित नये गठित अन्तरराष्ट्रीय (न्यूनतम मानक) समझौता संख्या 102 को स्वीकृत किया। संगठनों की कार्यसूची में सामाजिक संरक्षण को शामिल कर वर्ष 2001 में संगठन ने सभी के लिए सामाजिक सुरक्षा की शुरूआत की (अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन, 1952)।

वृद्धजनों की वैश्विक स्थिति

सभी देशों में वृद्धजनों के कल्याण को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। दुनिया भर में लोगों की उम्र बढ़ रही है। 65 साल से ज्यादा उम्र के लोगों की संख्या 2010 में 7.7 प्रतिशत थी। यह 2050 में दोगुनी होकर 15.6 प्रतिशत हो जाएगी। संयुक्त राष्ट्र की हालिया जनसंख्या

रिपोर्ट के अनुसार 60 वर्ष आयु वर्ग की वैश्विक जनसंख्या जो वर्ष 1980 में 38.2 करोड़ थी वह 2017 में 96.2 करोड़ से अधिक हो गयी है और वर्ष 2050 तक यह 210 करोड़ तक पहुँच जायेगी। वर्तमान में जापान 65 वर्ष की आयु के 26.3 प्रतिशत लोगों के साथ विश्व का सबसे वृद्ध आबादी वाला देश है। ऐसे ही इटली 25 प्रतिशत, पुर्तगाल 22 प्रतिशत वृद्ध आबादी के साथ क्रमश: द्वितीय और तृतीय स्थान रखते हैं। 2050 तक जापान, चीन और दक्षिण-कोरिया में वृद्ध आबादी 40 प्रतिशत हो जायेगी (संयुक्त राष्ट्र, 2019)। जर्मनी में आज से 30 साल पूर्व के मुकाबले सौ की उम्र के पाँच गुने ज्यादा लोग हैं। दुनिया भर में बुजुर्ग लोग सम्मानजनक जिन्दगी के लिए समुचित पेंशन की माँग को लेकर प्रदर्शन कर रहे हैं जैसे निकारागुआ देश में वे हर महीने 90 डॉलर की पेंशन की माँग कर रहे हैं। भारत में तो औसत मासिक आय ही वर्तमान में करीब 10 से 12 डॉलर है। संयुक्त राष्ट्र मे वृद्ध लोगों के लिए रोजगार के अवसरों की माँग हो रही है। आबादी के साथ पेंशन की धारणा बदल रही है (संयुक्त राष्ट्र, 2018)। आईएसएसए की रिपोर्ट के अनुसार, विकसित देशों की आबादी में तेजी से वृद्धों की संख्या में वृद्धि होती जा रही है और विकासशील देशों में कुछ ही दशकों में ऐसा होने वाला है। अगले 40 सालों में कम विकसित देशों में 65 साल और उससे ज्यादा उम्र वाले लोगों का अनुपात तिगुना हो जाएगा। जापान में वृद्धों की आबादी सबसे ज्यादा है। यहाँ 22 प्रतिशत से ज्यादा लोग 65 साल से ज्यादा उम्र वाले हैं। इटली और जर्मनी में यह आँकड़ा 20 प्रतिशत के करीब है और दक्षिणी अमेरिका के देश उरुग्वे में 64 साल से अधिक उम्र के 14 प्रतिशत लोग हैं। वर्ष 2050 में इस प्रवृत्ति के बढ़ने की आशंका है। जैसे जापान में 64 साल से अधिक उम्र के हर तीन लोगों पर केवल एक बच्चा (15 साल से कम उम्र का) होगा। आँकड़ों के अनुसार 1950 में 8 प्रतिशत जनसंख्या 60 वर्ष से ऊपर थी जो 2010 में 11 प्रतिशत हो गयी है और यह 2050 तक 22 प्रतिशत हो जायेगी, भारत वृद्ध आबादी वाले शीर्ष 10 देशों में से एक होगा, भारत में वृद्ध आबादी 2050 तक 34 करोड़ हो जायेगी। अभी प्रत्येक 12वाँ व्यक्ति वृद्ध है। 2050 तक प्रत्येक पाँचवाँ व्यक्ति वृद्ध होगा। जिसमें 60 साल से अधिक उम्र के लोगों की संख्या 8.9 प्रतिशत से बढ़कर 2050 में 19.4 प्रतिशत हो जायेगी। 80 साल से अधिक उम्र के लोगों की संख्या 0.9 प्रतिशत से बढ़कर 2.8 प्रतिशत होने की सम्भावना है। इससे सामाजिक सुरक्षा के बढ़ते दबाव की स्थिति निर्मित होगी (एजवेल, 2019)।

तालिका 1

विश्व में 60 वर्ष एवं 80 वर्ष से अधिक उम्र के लोगों की जनसंख्या का अनुमान

वर्ष	कुल जनसंख्या (करोड़)	60 वर्ष और इससे अधिक (करोड़)	80 वर्ष और इससे अधिक (करोड़)
2000	100.8	7.6	0.6
2050	157.2	32.4	4.8

स्रोत: वर्ल्ड पॉपुलेशन एजिंग 1950-2050, डिपार्टमेंट ऑफ इकोनॉमिक एण्ड सोशल अफेयर्स, पापुलेशन डिवीजन, यूएन, न्यूयार्क, 2002.

भारत मे वृद्धजन

2011 की जनगणना के अनुसार भारत में बुजुर्गो की संख्या करीब 10.4 करोड़ है। इसमे 5.3 करोड़ वृद्ध महिला और 5.1 करोड़ वृद्ध पुरुष हैं। 1991 की जनगणना तक वृद्ध पुरुषों की संख्या वृद्ध महिलाओं से ज्यादा थी। लेकिन पिछले दो दशकों में रुझान पलट गये हैं और अब वृद्ध पुरुषों के मुकाबले वृद्ध महिलाओं की संख्या ज्यादा हो गयी है। नीति निर्माताओं के लिए यह बड़ी चिन्ता की बात है, क्योंकि सभी हालातों में बुजुर्ग महिलाएँ पुरुषों की तुलना में ज्यादा असहाय हो जाती हैं। ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों के सन्दर्भ में देखें तो 7.3 करोड़ बुजुर्ग अर्थात् 71 प्रतिशत वृद्धजन आबादी ग्रामीण इलाके में रहती है। जबकि 3.1 करोड़ अर्थात् 29 प्रतिशत शहरी इलाकों में रहते हैं (भारत सरकार, 2016:19)।

चित्र 1
भारत में वृद्धजन आबादी (60 वर्ष और इससे अधिक)

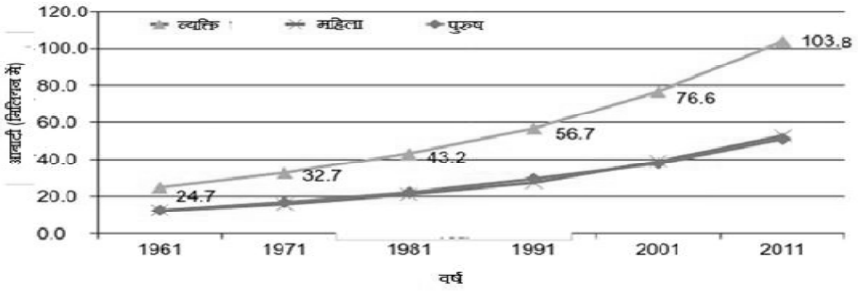

स्रोत: 2011 जनगणना

तालिका 2
जनगणना 2001 और 2011 के अनुसार कार्यरत वृद्धजनों की आबादी का प्रतिशत

निवास स्थान	लिंग	मुख्य रूप से कार्यरत		आंशिक रूप से कार्यरत		मुख्य रूप से कुल कार्यरत	आंशिक रूप से कुल कार्यरत		कार्यरत नहीं
		2001	2011	2001	2011	2001	2011	2001	2011
ग्रामीण	पुरुष	56.8	53.0	8.8	13.5	65.6	66.4	34.4	33.6
	महिला	13.7	16.3	11.2	12.1	24.9	28.4	75.1	71.6
शहरी	पुरुष	40.7	41.0	3.4	5.1	44.1	46.1	55.9	53.9
	महिला	6.8	8.3	2.1	3.0	9.0	11.3	91.0	88.7

स्रोत: जनगणना के महापंजीयक कार्यालय ,भारत सरकार

2011 के जनगणना आँकड़ों के अनुसार ग्रामीण क्षेत्रों में 66 प्रतिशत वृद्ध पुरुष और 28 प्रतिशत वृद्ध महिलाएँ मुख्य या सीमान्त कामगार के तौर पर आर्थिक गतिविधि में शामिल हैं। यद्यपि शहरी इलाकों में सिर्फ 46 प्रतिशत वृद्ध पुरुष और 11 प्रतिशत वृद्ध महिलाएँ

आर्थिक तौर पर कार्यशील हैं। ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में यह अनुपात 2001 की जनगणना में दर्ज आँकड़ों के मुकाबले बढ़त दिखा रहा है (भारत सरकार, 2016:70)।

भारत में वृद्धजनों की सामाजिक सुरक्षा

वृद्धजनों के सन्दर्भ में भारत मे सामाजिक सुरक्षा हमेशा से परिवार एवं समाज का विषय रहा है भारतीय परम्परा, रीति-रिवाज या सामाजिक विधान ऐसे बनाये गये थे जिससे व्यक्ति को वृद्धवस्था में सम्मानपूर्वक जीवनयापन सुलभ हो सके। आधुनिकता की ओर बढ़ते समाज ने पुराने नियमो को कमजोर किया है। संयुक्त परिवार अब सिमट कर एकल परिवार में परिवर्तित हो गये हैं, वृद्धजनों के प्रति अब धारणाएँ बदल गयी हैं जिससे सामाजिक सुरक्षा चिन्ता का विषय हो गया है।

एक सीमित अर्थ में भारत में सामाजिक सुरक्षा का आरम्भ श्रमिको के हित से माना जा सकता है। आधुनिक भारत मे सामाजिक सुरक्षा की शुरूआत वर्ष 1923 में श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम तथा मातृत्व हितकारी अधिनियमो के तहत मानी जाती है जो पूर्व में प्रान्तों, रियासतों में मालिकों की देयता के आधार पर पारित हुए थे। भारतीय समाज मे सामाजिक सुरक्षा हेतु श्रमिको को दो क्षेत्रों - संगठित एवं असंगठित - में बाँट कर अधिनियम बनाये गये किन्तु इन वैधानिक नियमों का विकास मालिकों की देयता के आधार पर हुआ था और इस प्रकार वे सामाजिक सुरक्षा के सिद्धान्तों से असंगत थे। वे श्रमिकों को व्यापक सुरक्षा प्रदान करने में विफल रहे (श्रम की दुनिया, 2010:5)। वृद्धावस्था सामाजिक सुरक्षा और श्रमिक सामाजिक सुरक्षा दोनों ही विषयो में अन्तर है परन्तु इसी अधार पर देश में वृद्धजनों की भी दो श्रेणी हैं जिनमें से एक संगठित क्षेत्र एवं दूसरी असंगठित क्षेत्र से सम्बन्धित है। देश में कुल 40 करोड़ श्रम शक्ति में से 3.5 करोड़ के पास वृद्धावस्था में आय संरक्षण के रूप में औपचारिक समाजिक सुरक्षा है जबकि अभी भी एक बड़ा हिस्सा असंगठित क्षेत्र में रहने के कारण वृद्धावस्था मे भी लगातार कार्यरत है (मिश्र, 2001)।

भारत मे वृद्ध सहायता कार्यक्रम : स्थिति और चिन्ताएँ

सामाजिक सुरक्षा के मामले में भारत दुनिया के दूसरे देशों से काफी पीछे है। यहाँ वृद्धजनों की देखभाल की संस्थागत व्यवस्था का अभाव है। देश की 70 प्रतिशत आबादी को ही किसी न किसी रूप में सामाजिक सुरक्षा हासिल है, वृद्ध अगर आर्थिक रूप से किसी पर आश्रित नहीं होते हैं तो उससे उनकी स्थिति अच्छी होने का पता चलता है। यद्यपि, देश में सिर्फ 26.3 प्रतिशत वृद्ध ही वित्तीय तौर पर किसी पर आश्रित नहीं हैं, जबकि 20.3 प्रतिशत आंशिक तौर पर दूसरों पर आश्रित हैं। देश की 53.4 प्रतिशत अर्थात् अधिकांश वृद्ध आबादी आर्थिक सुरक्षा के लिए पूरी तरह बच्चों पर आश्रित है (केन्द्रीय सांख्यिकीय कार्यालय, 2011)। वृद्धजनों की सामाजिक सुरक्षा के विषय में भी जो रिपोर्ट वर्तमान में आयी है वह अच्छी स्थिति को प्रदर्शित नही करती है। भारत में सामाजिक सुरक्षा कार्यक्रमों की विस्तृत

शृंखला होने के बाद भी समग्र सार्वजनिक व्यय सकल घरेलू उत्पाद का 1.5 प्रतिशत है जो दुनिया भर के कई मध्यम आय वाले देशों की तुलना में कम है। केवल 70 प्रतिशत लोग ही राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन के बारे में जानते हैं। वृद्ध महिलाओं की तुलना में वृद्ध पुरुष अधिक जानकारी रखते हैं। केवल 18 प्रतिशत वृद्धों की पहुँच वृद्धावस्था पेंशन योजना तक है। देश में केवल महाराष्ट्र ऐसा राज्य है जहाँ चार में से एक वृद्ध सरकार द्वारा दी जाने वाली रियायतों का लाभ उठा रहा है। गरीबी रेखा के नीचे आने वाली विधवाएँ केवल 25 प्रतिशत के आसपास योजना का लाभ उठा पा रही हैं। इकोनॉमिक इंडिपेंडेंस एंड सोशल सिक्योरिटीज अमंग इंडियाज एल्डरली' अर्थात् भारत में वृद्धों की आर्थिक आजादी और सामाजिक सुरक्षा के अनुसार देश में उम्रदराज लोगों की बढ़ती संख्या की सावधानी से पड़ताल करने और उससे खड़ी होने वाली समस्याओं को हल करने की जरूरत है। उनका कहना है कि इसका उद्देश्य वृद्धजनों पर वित्तीय बोझ में कमी करना है। जन्मदर में गिरावट के कारण उम्र के लिहाज से आबादी की बनावट में बुनियादी बदलाव हो रहा है। देश में साल 2011 में 10.34 करोड़ वृद्धजन थे। कुछ राज्यों में तो वृद्धजनों की आबादी दूसरे वर्गों से अधिक है। यद्यपि, औसतन कुल आबादी में से 10 प्रतिशत वृद्धजन हैं। 2040 तक इसके 15 प्रतिशत तक पहुँचने का अनुमान है। 8 करोड़ वृद्धजन में से केवल 2.23 करोड़ वृद्धजन पेंशन के हकदार हैं, उस समय तक कामकाजी आबादी में कमी शुरू हो जाएगी। भारत में वृद्धजनों की जनसंख्या 2011 में 10.38 करोड़ थी और 2026 में इसके 17.32 करोड़ तक होने का अनुमान है (गोली एवं अन्य, 2019)।

तालिका 3

कुल आबादी में आयुवार बढती वृद्धजन जनसंख्या का प्रतिशत

आयु वर्ग (वर्ष)	वर्ष 2011 (करोड़)	वर्ष 2016 (करोड़)
60-69	5.68	6.89
70-79	3.20	3.58
80 वर्ष और अधिक	0.96	1.32
कुल आयु	119.25	126.89

स्रोत: पापुलेशन प्रोजेक्शन रिपोर्ट फॉर इंडिया एंड स्टेट 2001-2026, रिपोर्ट ऑफ द टेक्निकल ग्रुप ऑन पॉपुलेशन प्रोजेक्शन, भारत सरकार, 2006.

भारतीय संविधान के नीति-निर्देशक सिद्धान्तों (अनुच्छेद 41) के अनुसार राज्य अपनी आर्थिक क्षमता एवं विकास की सीमाओं के भीतर वृद्धजनों के रोजगार, शिक्षा, बीमारी एवं विकलांगता की स्थिति में सार्वजनिक सहायता के अधिकार को सुरक्षित करेगा एवं इसके लिए कारगर प्रावधान बनाये गये हैं। संवैधानिक अधिकार के तहत अनुच्छेद 24 की सूची 3 एवं धारा 6 में वृद्ध लोगों के अधिकारों की चर्चा की गयी है। इसमें कार्य की दशाओं, भविष्यनिधि, अशक्तता तथा वृद्धावस्था पेंशन की चर्चा की गयी है। इसके अतिरिक्त

राज्यसूची की मद संख्या 9 एवं समवर्ती सूची की मद संख्या 20, 23 एवं 24 में पेंशन, सामाजिक सुरक्षा तथा सामाजिक बीमा के अधिकार दिये गये हैं। साधनविहीन माता-पिता अपने भरण-पोषण के लिए साधन-सम्पन्न बच्चों पर दावा प्रस्तुत कर सकते हैं। इस अधिकार को कानून आपराधिक प्रक्रिया संहिता 1973 की धारा 125(1)(डी) तथा हिन्दू दत्तक भरण-पोषण अधिनियम 1956 की धारा 20(1 एवं 3) द्वारा मान्यता दी गयी है।

भारत में वृद्ध व्यक्तियों हेतु उपयुक्त उचित नीतिगत हस्तक्षेपों को देखते हुए वर्ष 1999 मे राष्ट्रीय वृद्धजन नीति तैयार की गयी। इसके बाद 2001 मे लैंडमार्क में संयुक्त राष्ट्र प्रायोजित मेड्रिक इंटरनेशनल प्लान ऑफ एक्शन ऑन एजिंग आया। सम्भावना है कि मेड्रिक इंटरनेशनल प्लान ऑफ एक्शन ऑन एजिंग ने राष्ट्रीय वृद्धजन नीति से कुछ अंशों का लाभ उठाया है। सामाजिक न्याय और अधिकारिता मन्त्रालय लक्षित समूहों को आत्मनिर्भर और सशक्त बनाकर विकास की मुख्य धारा में लाने हेतु कार्य करता है। देश में इस नीति के अनुरूप औपचारिक और अनौपचारिक क्षेत्र के वृद्धजनों के लिए सामाजिक सहायता प्रणाली विकसित कर सामाजिक सहायता प्रदान करने के हेतु विभिन्न योजनाएँ प्रारम्भ की गयीं (भारत सरकार, 2016:15)।

एकीकृत वृद्धजन कार्यक्रम

मन्त्रालय द्वारा एकीकृत वृद्धजन कार्यक्रम योजना, 1992 से क्रियान्वित है। इस योजना का उद्देश्य वरिष्ठ नागरिकों की बुनियादी जरूरतें, विशेष रूप से आवास, भोजन एवं अभावग्रस्त वृद्धजनों की स्वास्थ्य देखरेख जैसी आवश्यकता पूरी करके उनके जीवन स्तर में सुधार करना है। इस योजना के तहत, वृद्धाश्रम, डे केयर केन्द्र संचालन और चिकित्सा इकाई चलाने एवं उनके अनुरक्षण के लिए स्वयंसेवी संगठनों को परियोजना लागत की 90 प्रतिशत तक सहायता उपलब्ध करवाई जाती है। वर्ष 2009-10 के दौरान, 345 वृद्धाश्रम, 184 डे केयर केन्द्र और 27 सचल चिकित्सा इकाई चलाने के लिए इस योजना के तहत 360 स्वयंसेवी संगठनों की सहायता की गयी (यूएनएफपीए, 2017)।

राष्ट्रीय सामाजिक सहायता पेंशन कार्यक्रम

यह योजना 1995 में गरीबों और निराश्रितों को सामाजिक सहायता प्रदान करने के लिए शुरू की गयी थी। प्रारम्भ मे इस कार्यक्रम में राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन योजना, अन्नपूर्णा योजना, राष्ट्रीय पारिवारिक लाभ योजना और राष्ट्रीय मातृत्व लाभ योजना शामिल थी। अन्नपूर्णा योजना का उद्देश्य उन वरिष्ठ नागरिकों की खाद्य आवश्यकता को पूरा करने के लिए खाद्य सुरक्षा प्रदान करना था जो इस योजना के अन्तर्गत पात्र थे। इसमें प्रत्येक लाभार्थी को हर माह 10 किलोग्राम नि:शुल्क चावल दिये जाते हैं। 2007 में वृद्धावस्था पेंशन योजना का नाम बदलकर इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेशन योजना कर दिया गया।

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन योजना

यह योजना ग्रामीण विकास मन्त्रालय द्वारा 2007 में शुरू की गयी, इस योजना को राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेंशन योजना के रूप में जाना जाता है। यह योजना वरिष्ठ नागरिकों, विधवाओं और विकलांग लोगों को सामाजिक सहायता प्रदान करती है। इस योजना के तहत लाभार्थी को मासिक पेंशन मिलती है। यह एक गैर-योगदान योजना है, जिसमें लाभार्थी को पेंशन प्राप्त करने के लिए किसी भी राशि का योगदान नहीं करना पड़ता है। लाभार्थी बीपीएल कार्ड धारक होना चाहिए और किसी अन्य स्रोत से वित्तीय सहायता का कोई नियमित स्रोत नहीं होना चाहिए। यदि लाभार्थी की आयु 60 से 79 वर्ष के बीच है, तो रुपये 200 की मासिक राशि दी जाती है और 80 वर्ष से अधिक आयु वालों के लिए, रुपये 500 की राशि। गरीबी रेखा से नीचे रहने वालों के लिए इसे बढाकर रुपये 600 कर दिया गया है। पेंशन राशि को लाभार्थी के डाकघर या बैंक खाते में जमा किया जाता है।

कर्मचारी भविष्य निधि योजना

कर्मचारी भविष्य निधि योजना सरकारी एवं निजी क्षेत्रों में कार्यरत सभी कर्मचारियों के लिए बचत का एक प्रमुख साधन है। इसकी शुरूआत 15 नवम्बर, 1951 को कर्मचारी भविष्य निधि अध्यादेश के आने के पश्चात् हुई थी। इसके बाद कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम, 1952 पारित किया गया जो अब कर्मचारी भविष्य निधि एवं विविध प्रावधान अधिनियम, 1952 के नाम से जाना जाता है। वर्तमान में कर्मचारी भविष्य निधि एवं विविध प्रावधान अधिनियम के अन्तर्गत 187 श्रेणियाँ निर्धारित की गयी हैं। इन श्रेणियों के अन्तर्गत आने वाली किसी भी संस्था, जिसमें 19 से ज्यादा कर्मचारी कार्यरत हैं उन्हें वित्तीय सुरक्षा एवं स्थिरता प्रदान करता है। भविष्य निधि खाते में कर्मचारी का अंशदान उसके संस्था में शामिल होने के बाद शुरू हो जाता है। यह अंशदान नियमित तौर पर किया जाता है। कर्मचारी अपने मासिक वेतन का एक छोटा हिस्सा भविष्य निधि के रूप में बचाता है ताकि सेवानिवृत्त होने के पश्चात् या जब वह काम करने में सक्षम न हो, तब वह इस बचत राशि का उपयोग कर सके। नियोक्ता एवं कर्मचारी दोनों के द्वारा वेतन का 12 प्रतिशत भविष्य निधि में जमा किया जाता है। इसके अतिरिक्त नियोक्ता को कर्मचारी भविष्य निधि एवं विविध प्रावधान अधिनियम, 1952 के तहत लाभों के प्रबन्धन हेतु भी अंशदान करना होता है।

कर्मचारी राज्य बीमा निगम भारतीय कर्मचारियों के लिए बीमा धनराशि का प्रबन्धन करता है। कर्मचारी राज्य बीमा, भारतीय कर्मचारियों के लिए चलायी गयी स्व-वित्तपोषित सामाजिक सुरक्षा एवं स्वास्थ्य बीमा योजना है। सभी स्थायी कर्मचारी जो रुपये 21,000 प्रतिमाह से कम वेतन पाते हैं, इसके पात्र हैं। इसमें कर्मचारी का योगदान 0.75 प्रतिशत तथा रोजगार प्रदाता का योगदान 3.25 प्रतिशत होता है (एजवेल, 2019:5)।

राष्ट्रीय वृद्धजन नीति 1999

भारत सरकार ने वृद्धजनों का कल्याण सुनिश्चित करने की प्रतिबद्धता को और पुष्ट करने के लिए जनवरी, 1999 में पहली राष्ट्रीय वृद्धजन नीति की घोषणा की थी। इस नीति में वृद्धजनों की वित्तीय एवं खाद्य सुरक्षा, स्वास्थ्य देखरेख, आवास तथा अन्य जरूरतें, विकास में बराबर की हिस्सेदारी, दुर्व्यवहार एवं शोषण से सुरक्षा तथा उनके जीवन स्तर में सुधार लाने के लिए सेवाओं की उपलब्धता सुनिश्चित करने के लिए राज्य की सहायता पर बल दिया गया है। इसके साथ ही 2007 में 'माता-पिता एवं वरिष्ठ नागरिक भरण-पोषण विधेयक' संसद में पारित किया गया है। इसमें माता-पिता के भरण-पोषण, वृद्धाश्रमों की स्थापना, चिकित्सा सुविधा की व्यवस्था और वरिष्ठ नागरिकों के जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा का प्रावधान किया गया है। देश में वरिष्ठ नागरिकों की बदलती जनांकिकी के मद्देनजर सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मन्त्रालय ने जनवरी, 2010 में समिति गठित की। सामान्य तौर पर वरिष्ठ नागरिकों से सम्बन्धी विविध मसलों की वर्तमान स्थिति तथा विशेष रूप से राष्ट्रीय वृद्धजन नीति, 1999 के कार्यान्वयन का आकलन करने के लिए यह समिति गठित की गयी है। समिति नयी राष्ट्रीय वृद्धजन नीति के लिए मसौदे पर कार्य कर रही है। समीक्षा समिति की अब तक चंडीगढ़, चैन्नई, मुम्बई, गुवाहाटी और भुवनेश्वर में पाँच बैठकें तथा पाँच क्षेत्रीय बैठकें हो चुकी हैं। मसौदे मे वृद्धजनों के लिए प्रति व्यक्ति रुपये 1000 की मासिक पेंशन की सिफारिश की गयी है। यह वृद्धों की उत्पादक उम्र बढ़ने के लिए विस्तारित कार्यान्वयन पर विशेष जोर देता है। कार्यान्वयन तन्त्र के सन्दर्भ मे मसौदा राज्य और केन्द्र शासित प्रदेशों में और इसी निदेशालय मे वरिष्ठ नागरिकों के लिए एक विभाग की स्थापना का प्रस्ताव करता है। वृद्धों हेतु केन्द्र में राष्ट्रीय आयोग और राज्यों के स्तर पर इसी तरह के आयोगों का प्रस्ताव नीति में है।

प्रधानमन्त्री जीवन सुरक्षा बीमा योजना

प्रधानमन्त्री जीवन सुरक्षा बीमा योजना की शुरूआत 1 जून 2015 को की गयी थी। इसके लिए कोई भी व्यक्ति जिसका बचत खाता है और उसकी उम्र 18-70 साल तक है, वह योजना का लाभ ले सकता है। इसके लिए उसे हर साल रुपये 12 का प्रीमियम देना होगा। इसमें बीमा धारक को 2 लाख रुपये का दुर्घटना कवर मिलता है। जबकि दुर्घटना के दौरान विकलांगता आदि की स्थिति में रुपये 1 लाख का कवर मिलता है। अगर दुर्घटना के दौरान व्यक्ति की दोनों आँखों की रोशनी चली जाती है या फिर उसके हाथ और पैर बेकार हो जाते हैं तो भी रुपये 2 लाख का कवर बीमाधारक को मिलेगा।

अटल पेंशन योजना

अटल पेंशन योजना भारत सरकार द्वारा समर्थित वृत्ति योजना है। इसका लक्ष्य असंगठित क्षेत्र के लोगों को पेंशन की सुविधा प्रदान करना है। इसका आरम्भ कोलकाता में 9

मई 2015 को प्रधानमन्त्री नरेन्द्र मोदी ने किया। अटल पेंशन योजना में शामिल होने की न्यूनतम आयु 18 वर्ष है और अधिकतम आयु 40 वर्ष है। बाहर निकलने की उम्र और वृत्ति की शुरूआत 60 साल से होगी। अत: अटल पेंशन योजना के अन्तर्गत ग्राहक द्वारा न्यूनतम अंशदान 20 साल या उससे अधिक हो जाएगा। प्रमाण के लिए एक राशन कार्ड की प्रति प्रस्तुत कर सकते हैं, बैंक पासबुक की कॉपी भी स्वीकार की जाती है। योजना के द्वारा 60 वर्ष की आयु के पश्चात् रुपये 1000/2000/3000/4000 या 5000 की मासिक गारंटी पेंशन प्राप्त कर सकते हैं। योजना में किये गये प्रत्येक योगदान पर केन्द्र सरकार कुल योगदान का 50 प्रतिशत सह-योगदान भी करेगी या रुपये 1000 प्रति वर्ष जो भी कम हो, जो प्रत्येक पात्र ग्राहक के खाते में 5 वर्ष की अवधि के लिए हो।

प्रधानमन्त्री जीवनज्योति बीमा योजना

प्रधानमन्त्री जीवनज्योति बीमा योजना की शुरूआत 1 जून 2015 को की गयी थी। जीवनज्योति योजना के तहत 18-50 साल की उम्र का व्यक्ति रुपये 330 का सालाना प्रीमियम देकर, रुपये 2 लाख का जीवन बीमा कवर ले सकेगा। 55 साल की अवधि के दौरान अगर किसी व्यक्ति की किसी भी कारण मौत होती है, तो उसके उत्तराधिकारी को रुपये 2 लाख की राशि मिलेगी।

वरिष्ठ पेंशन बीमा योजना

वरिष्ठ पेंशन बीमा योजना एक निवेश आधारित योजना है, जिसमें निवेश की गयी रकम के आधार पर वरिष्ठ नागरिकों को पेंशन मिलती है। इसके तहत हर महीने 500 से लेकर रुपये 10 हजार तक की पेंशन दिये जाने का प्रावधान है। इस स्कीम की जिम्मेदारी भारतीय जीवन बीमा निगम को सौंपी गयी है। योजना के अन्तर्गत बीमा कम्पनी 10 वर्ष की अवधि के लिए न्यूनतम 8 प्रतिशत का निश्चित लाभ देगी। वरिष्ठ पेंशन बीमा योजना की विशेषता यह है कि इसमें बैंक की ओर से दिये जाने वाले ब्याज की अपेक्षा अधिक ब्याज मिलता है। वर्तमान योजना में न्यूनतम 8 प्रतिशत और अधिकतम 10 प्रतिशत ब्याज दिया जाता है। इसके तहत वरिष्ठ नागरिकों को हर महीने 10 हजार रुपये तक की पेंशन देने का प्रावधान है। अच्छी बात यह है कि इसमें 10 वर्ष की अवधि के लिए न्यूनतम 8 प्रतिशत का निश्चित लाभ दिया जाता है।

राष्ट्रीय वयोश्री योजना

वर्ष 2017 में 'राष्ट्रीय वयोश्री योजना' के रूप में एक कार्यक्रम शुरू किया गया जिसका उद्देश्य गरीबी रेखा से नीचे की श्रेणी में जीवन-यापन करने वाले बुजुर्गों को व्हील चेयर, सुनने में सहायक उपकरण, चश्मा, छड़ी आदि भौतिक वस्तुएँ एवं जीवन सहायक उपकरण प्रदान करना है। इस योजना के तहत 53,000 से अधिक वरिष्ठ नागरिक लाभान्वित

हो चुके हैं। शुरू में इसके लिए 305 जिलों का चयन किया गया है और उनमें से 55 जिलों में इसे लागू किया गया है।

प्रधानमन्त्री वय वन्दन योजना

यह वरिष्ठ नागरिकों के लिए एक पेंशन स्कीम है। इसके क्रियान्वयन का जिम्मा भारतीय जीवन बीमा निगम पर है। यह योजना दो भागों में केन्द्रीय बजट 2017-18 और 2018-19 में घोषित की गयी थी और 4 मई, 2017 को प्रधानमन्त्री वय वन्दन योजना को शुरू किया था। इसमें 60 साल या उससे ज्यादा का कोई भी नागरिक निवेश कर सकता है। निवेश की अधिकतम सीमा रुपये 15 लाख है। वित्त वर्ष 2020-21 के लिए निश्चित वापसी की दर 7.4 प्रतिशत वार्षिक रखी गयी है इस दर को हर साल बदला जाता है। पहले इस योजना में निश्चित वापसी 8 प्रतिशत थी।

निष्कर्ष

वृद्धजनों की इस स्थिति को समस्या के दृष्टिकोण से नहीं देखना चाहिए बल्कि इसे एक क्षमता के रूप में समझने की जरूरत है। कल्याणकारी कार्यक्रमों के बावजूद आर्थिक, स्वास्थ्य और सामाजिक सुरक्षा में उल्लेखनीय रूप से सुधार नहीं हुआ है और बड़ी संख्या में बुजुर्गों को अभी भी समर्थन के लिए अपने परिवारों पर निर्भर रहना पड़ता है। आय सुरक्षा, अशिक्षा, शारीरिक और आर्थिक निर्भरता ऐसे कारक हैं जो भारतीय बुजुर्गों, विशेषकर बुजुर्ग महिलाओं को कमजोर बनाते हैं। बुजुर्गों के जीवन की गुणवत्ता और गुणवत्ता में सुधार के लिए महत्वपूर्ण नीति और कार्यक्रम नितान्त आवश्यक है। देश में खासकर गरीब वृद्ध महिलाओं की स्थिति अधिक दयनीय है। अक्सर इन महिलाओं को जीवनयापन के लिए भीख माँगने पर मजबूर होना पड़ता है। बहुत से लोग ताउम्र सिर्फ मजदूरी करते हैं और बुढ़ापे के लिए कुछ भी बचा नहीं पाते हैं। वर्तमान अनुमान कहते हैं कि विश्व की आधी आबादी यानी 50 प्रतिशत लोगों को किसी प्रकार का सामाजिक संरक्षण प्राप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त हाल के वित्तीय एवं आर्थिक संकट के चलते विश्व स्तर पर वर्तमान सामाजिक सुरक्षा प्रणालियों पर बहुत बुरा असर पड़ने की आशंका है। लेकिन यह भी सच है कि इस तरह के संकट नीति विचार में बदलाव करने के अवसर भी प्रदान करते हैं। विकासशील देशों में आम तौर पर पेंशन और सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था की भी कमीं होती है। बुजुर्ग लोगों की जिन्दगी को आसान बनाने के लिए इनकी नयी संरचनाएँ बनाने की जरूरत होगी।

सन्दर्भ

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (1952) *सोशल सिक्योरिटी (मिनिमम स्टेंडर्ड्स)* (नं. 102)।

एजवैल (2019), *स्टेटस ऑफ सोशल सिक्योरिटी एण्ड सोशल प्रोटेक्शन फ्लोर्स इन इण्डिया रिपोर्ट*, एजवैल फाउण्डेशन, नई दिल्ली।

सेन

कार श्रेयान, महापात्रा, पी.के. (2019) 'सोशल सिक्यूरिटी ऑफ एल्डरली इज एट स्टेक : कन्सर्न रेज्ड बॉय ओल्डर एडल्ट्स इन इण्डिया', *इण्डियन जर्नल ऑफ जेरिएट्रिक केयर एण्ड रिसर्च,* भाग 6(2)।

केन्द्रीय सांख्यिकी कार्यालय (2011), *सिचुएशन एनालिसिस ऑफ एल्डरली इन इंडिया,* मिनिस्ट्री ऑफ स्टेटिस्टिक्स एण्ड प्रोग्राम इम्प्लीमेंटेशन, भारत सरकार।

गुप्ता, सुभाषचन्द्र एवं शर्मा लता कंचन (2009) *वृद्ध महिलाओं की उपेक्षा, शोषण एवं समस्या,* अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली।

गोली, श्रीनिवास, रेड्डी भीमेश्वर, जेम्स, ए.के.एस., वेंकटेश श्रीनिवासन (2019) इकोनॉमिक इंडिपेंडेंस एण्ड सोशल सिक्यूरिटी अमंग इण्डियाज एल्डरली, *इकोनॉमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली,* भाग 54, अंक 39, 28 सितम्बर

बटलर क्रिस (2007), द सोशल इम्पेक्ट ऑफ इण्डस्ट्रियलाइजेशन, द फ्लो ऑफ हिस्ट्री http://www.flowofhistory.com/units/eme/17/fc113. 24 अक्टूबर, 2016 को अवलोकित।

बेवरिज, विलियम (1942) *सोशल इंश्योरेंस एंड द एलाइड सर्विसेस,* एचएसएमओ बुक्स, लन्दन।

भारत सरकार (2016) *भारत में वृद्धजन,* वार्षिक रिपोर्ट, सामाजिक सांख्यिकीय विभाग, नई दिल्ली।

मिश्र, भारतेन्दु (2001), *बढ़ती जनसंख्या और शिक्षा,* विकास प्रकाशन, दिल्ली।

यूएनएफपीए (2017) *केयरिंग फॉर अवर एल्डर्स : अर्ली रिस्पांस,* इंडिया एजिंग रिपोर्ट, नई दिल्ली

रत्तू, कृष्ण कुमार, (1998) *भारतीय समाज चिन्तन और पतन,* पॉइंटर पब्लिशर्स, जयपुर।

श्रम की दुनिया, अंक 38, अप्रैल (2010) आईएलओ जनसम्पर्क ब्यूरो जेनेवा।

संयुक्त राष्ट्र (2008) *रिपोर्ट ऑफ कमेटी ऑन इकोनॉमिक, सोशल एण्ड कल्चरल राइट्स,* 39वाँ सत्र (5 से 23 नवम्बर, 2007)

संयुक्त राष्ट्र (2019) *वर्ल्ड पापुलेशन प्रॉस्पेक्ट्स,* यूनाइटेड नेशन इकोनॉमिक्स एवं सोशियल अफेयर, पापुलेशन डिविजन रिपोर्ट।

संयुक्त राष्ट्र (2019), *द युनाइटेड नेशन पापुलेशन फंड रिपोर्ट*

https://hi-wikipedia-org/wiki/wikipedia-org/wiki/ सामाजिक सुरक्षा अन्तिम परिवर्तन 06:49, 3 मार्च 2020 को अवलोकित।

मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल
(म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान का अर्द्धवार्षिक जर्नल)
ISSN: 0973-8568 (वर्ष 18, संयुक्तांक, जनवरी-दिसम्बर 2020, पृ. 102-104)

पुस्तक समीक्षा

जनादेश : जनता का आदेश

वीर सांघवी

अनुवादक : अनु सिंह चौधरी
वेस्टलैण्ड लिमिटेड, चैन्नई, 2015, पृ. 129, मूल्य : रु. 150/.

मुनेश कुमार*

'जनादेश: जनता का आदेश' नामक प्रस्तुत पुस्तक वरिष्ठ पत्रकार वीर सांघवी द्वारा मूलत: अंग्रेजी भाषा में लिखी गयी है। इसका हिन्दी अनुवाद अनु सिंह चौधरी ने बहुत ही सरल, सहज, रोचक और पाठक-मित्रवत शैली में किया है। पुस्तक की प्रस्तावना अमीश ने लिखी है। इस पुस्तक को लिखने में मुख्यत: प्राथमिक स्रोतों यथा - साक्षात्कार, स्वयं के अवलोकन एवं विश्लेषण, समाचार पत्र-पत्रिकाओं, रेडियों रिपोर्टस, प्रमुख आयोग एवं समितियों के प्रतिवेदनों का सहारा लिया गया है। पुस्तक को ऐतिहासिक, वर्णनात्मक-विश्लेषणात्मक पद्धति से लिखा गया है।

इस पुस्तक में कुल सात अध्याय हैं जिनमें लेखक ने स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीति और खासतौर से 1971 के आम चुनाव से यूपीए-2 सरकार के आम चुनावों, प्रमुख घटनाओं एवं दुर्घटनाओं, महनीय नेतृत्वकर्त्ताओं और उल्लेखनीय सरकारी कार्यक्रमों एवं नीतियों के विषय में अपनी बेबाक राय रखी है।

---

*सहायक प्राध्यापक (राजनीति शास्त्र), शासकीय श्रीमन्त माधवराव सिन्धिया स्नातकोत्तर महाविद्यालय, शिवपुरी (म.प्र.). **E-mail: kumarmunesh082@gmail.com**

पुस्तक के प्रारम्भ में ही लेखक ने भारतीय न्यूज टेलीविजन के उस नए चलन के प्रति आपत्ति जतायी है, जिसमें चैनल रिपोर्टरों को फील्ड में न भेजकर स्टूडियों में ही दर्जनों मेहमान जमा कर और एक एंकर उन्हें एक दूसरे से असहमत होने के लिए, एक-दूसरे पर चीखने-चिल्लाने के लिए प्रोत्साहित करता रहता है। लेखक ने बड़ी बेबाकी से यह लिखा है कि हम एक इस तरह के समाज में तब्दील हो गये हैं जो तथ्यों से ज्यादा विचारों पर, विमर्श से ज्यादा बहस पर, और इतिहास की गहरी समझ के बजाय भविष्य के बारे में धुंधली राय रखने में यकीन रखता है।

प्रथम अध्याय में लेखक ने इन्दिरा गाँधी के राजनीति में प्रवेश, बैंकों का राष्ट्रीयकरण, प्रीवीपर्स की समाप्ति, 1969 के राष्ट्रपति चुनाव और 1971 के आम चुनावों का वर्णन किया है। द्वितीय अध्याय में राजनारायण का मामला, इन्दिरा गाँधी के चुनाव को अवैध ठहराया जाना, जयप्रकाश नारायण आंदोलन, आपातकाल की घोषणा, भारतीय राजनीति में संजय गांधी का प्रभाव, 1977 के लोकसभा चुनाव और उसके निहितार्थ तथा जे.सी. शाह आयोग के कार्यकरण की चर्चा की है।

तृतीय अध्याय में वर्ष 1984 की सभी पहेलियों को सुलझाने में एक गंभीर पत्रकार के कौशल का बखूबी इस्तेमाल किया गया है। मसलन विमान दुर्घटना में संजय गाँधी की मौत, राजीव गाँधी का राजनीति में पर्दापण और वंश परंपरा की जड़ों का गहरा होना, पंजाब में आंतकवाद और खालिस्तान की माँग, ऑपरेशन ब्लैक थण्डर, इन्दिरा गाँधी की हत्या, राजीव गाँधी का प्रधानमंत्री बनना, दिल्ली के कुख्यात दंगे और 1984 के भावुक आम चुनावों का संक्षिप्त उल्लेख किया है।

चतुर्थ अध्याय में 90 के दशक में सरकार के समक्ष विद्यमान आर्थिक, राजनीतिक चुनौतियों, पृथकतावाद की मांगों और उनसे निपटने के राजीव गाँधी के प्रयासों को लिपिबद्ध किया गया है। इसके अतिरिक्त बोफोर्स मामला, कम्प्यूटर क्रांति का उल्लेख किया गया है। इसके आगे अध्याय पंचम में मंडल और मंदिर आंदोलन की पृष्ठभूमि के विषय में विस्तार से लिखा गया है। राजीव गाँधी की हत्या, उसके बाद वी.पी. सिंह एवं पी.वी. नरसिंहराव की सरकारों के कार्यकरण का मूल्यांकन किया गया है।

छठा अध्याय अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में भारतीय जनता पार्टी के उत्थान, गुजराल एवं दैवगौड़ा सरकारों का कार्यकाल, द्वितीय परमाणु परीक्षण, कारगिल युद्ध, गुजरात दंगे और संसद पर हुए हमले की सारगर्भित कहानी समेटे हुए है।

अन्तिम अर्थात् सातवां अध्याय सोनिया गाँधी के भारतीय राजनीति में प्रवेश, यूपीए-1 एवं यूपीए-2 सरकारों की कार्यशैली, प्रधानमंत्री के रूप में डॉ. मनमोहन सिंह की भूमिका, मनरेगा योजना का प्रभाव, कोयला घोटाला, कॉमनवेल्थ खेल घोटाला, 2-जी स्पैक्ट्रम घोटाला के इर्द-गिर्द घूमता है तथा 2014 के चुनाव में नरेन्द्र मोदी के अच्छी सरकार, रोजगार एवं तरक्की के वायदे के साथ समाप्त हो जाता है।

पुस्तक का मुख्य उद्देश्य यह है कि नौजवान पीढ़ी को स्वतन्त्र भारत की राजनीति के इतिहास की प्रमुख घटनाओं, व्यक्तियों, मसलों और आम चुनावों के विषय में सरल, सहज एवं ग्राहय भाषा में संक्षिप्त एवं रोचक ढंग से अवगत कराया जा सके। साथ ही प्रमुख घटनाओं, नीतियों एवं निर्णयों का प्राथमिक स्रोतों के आलोक में विश्लेषित किया जा सके।

यह पुस्तक आकार की दृष्टि से बेहद संक्षिप्त है। अत: कुछ बेहद अहम मुद्दे जैसे- मौलिक अधिकारों के विषय पर विधायिका एवं न्यायपालिका के मध्य टकराव, सम्पत्ति के अधिकार का विवाद, स्थानीय स्वशासन की पहल और भ्रष्टाचार उन्मूलन हेतु अन्ना आन्दोलन एवं अन्य कई मुद्दे या तो छूट गये है या उन पर अत्यल्प प्रकाश डाला जा सका है। पुस्तक भारतीय राजनीति के किसी सैद्धान्तिकरण से दूर घटनाक्रमों का लेखा ही है। नवीन संस्करण में पुस्तक के आकार में यथोचित वृद्धि कर छूटे हुए प्रमुख मुद्दों को समावेशित कर पुस्तक को अद्यतन किया जाना आवश्यक प्रतीत होता है।

प्रस्तुत पुस्तक राजनीति विज्ञान के विद्यार्थियों, शोधार्थियों एवं शिक्षकों के साथ-साथ उस प्रत्येक व्यक्ति के लिए लाभकारी है जो स्वतन्त्र भारत की राजनीति को जानने-समझने, विश्लेषण एवं शोध करने में रूचि रखता है। यह पुस्तक लोक सेवकों, पत्रकारों, प्रबुद्ध व्यक्तियों, राजनीतिक विश्लेषकों, राजनीतिक दलों के प्रवक्ताओं तथा स्वयं राजनेताओं के लिए भी समान रूप से उपयोगी है।

उक्त सीमाओं के बावजूद भी स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीति के चार दशकों के इतिहास को रोचक, सहज और तथ्यात्मक दृष्टि से सटीक शैली में समेटने वाली यह एक शानदार पठनीय पुस्तक है। जहाँ यह पुस्तक घटनाओं की सच्ची कहानी बयाँ करती है, वहीं घोटालों का कच्चा चिट्ठा भी खोलती है। भारतीय राजनीति के विषय में उठने वाले सवालों पर अपनी बेबाक एवं स्पष्ट राय रखने वाली यह किताब कहानीनुमा अंदाज में लिखी गयी है, जो पाठक को बांधकर रख लेती है।

लेखकों के लिए अनुदेश

- म.प्र. सामाजिक विज्ञान अनुसंधान जर्नल में प्रकाशन हेतु समाज विज्ञान के किसी भी पक्ष पर मौलिक शोध एवं साहित्य की समीक्षा पर आधारित विश्लेषणात्मक शोध आलेख आमंत्रित है। इस सन्दर्भ में किसी भी प्रकार का पत्र व्यवहार सम्पादक, मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसंधान जर्नल, म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, 6 रामसखा गौतम मार्ग, भरतपुरी प्रशासनिक प्रक्षेत्र, उज्जैन - 456010 के नाम से किया जाये।
- शोध आलेख एमएस-वर्ड में ए-4 आकार के पेपर पर डबल स्पेस में कृतिदेव010 फोण्ट में टाइप होना चाहिए। शोध आलेख 5000 से 8000 शब्दों के बीच होना चाहिए। शोध आलेख के साथ 150 शब्दों में शोध आलेख का सारांश भी भेजें। शोध आलेख के साथ उसकी सॉफ्ट कॉपी सीडी में अथवा ई-मेल mpissrhindijournal@gmail.com पर प्रेषित करे।
- प्रकाशन हेतु प्राप्त प्रत्येक शोध आलेख की दो विषय विशेषज्ञों द्वारा समीक्षा की जायेगी। समसामयिक प्रासंगिकता, स्पष्ट एवं तार्किक विश्लेषण, सरल एवं बोधगम्य भाषा, उचित प्रविधि आदि शोध आलेख के प्रकाशन हेतु स्वीकृति के मानदण्ड होंगे। किसी भी शोध आलेख को स्वीकृत/अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादक का होगा।
- सभी टिप्पणियाँ एवं सन्दर्भ शोध आलेख के अंत में दिये जाएँ तथा शोध आलेख में यथास्थान उनका आवश्यक रूप से उल्लेख करें।

पुस्तकों के लिए सन्दर्भ हेतु निम्न पद्धति का अनुसरण करें

उपनाम, नाम (प्रकाशन वर्ष), पुस्तक का नाम, प्रकाशक, प्रकाशन स्थान, पृष्ठ

जर्नल्स के लिए सन्दर्भ हेतु निम्न पद्धति का अनुसरण करें

उपनाम, नाम (प्रकाशन वर्ष), 'आलेख का शीर्षक', जर्नल का नाम, अंक, खण्ड, प्रकाशक, प्रकाशन स्थान, पृष्ठ

म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, उज्जैन

म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान, उज्जैन भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान परिषद्, मानव संसाधन विकास मन्त्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली तथा उच्च शिक्षा मन्त्रालय, मध्यप्रदेश शासन द्वारा स्थापित स्वायत्त शोध संस्थान है। कार्य एवं स्वरूप की दृष्टि से मध्यप्रदेश में यह अपनी तरह का एकमात्र शोध संस्थान है। समाज विज्ञानों में समकालीन अन्तरशास्त्रीय संदृष्टि को बढ़ावा देते हुए मध्यप्रदेश में समाज विज्ञान मनीषा का सशक्त संवाहक बनना संस्थान का मूल उद्देश्य है।

अपनी संस्थापना से ही यह संस्थान सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, प्रशासनिक एवं विकास की विभिन्न समस्याओं, मुद्दों और प्रक्रिया ओं पर अन्तरशास्त्रीय शोध को संचालित व प्रोत्साहित करते हुए सामाजिक, आर्थिक और नीतिगत महत्त्व की शोध परियोजनाओं को क्रियान्वित करता है।

संस्थान की शोध गतिविधियाँ मुख्यतः पंचायत राज एवं ग्रामीण विकास, लैंगिक अध्ययन, अनुसूचित जाति एवं जनजाति से सम्बन्धित मुद्दे, विकास एवं संस्थापन, पर्यावरण अध्ययन, सामाजिक न्याय, लोकतन्त्र एवं मानवाधिकार, सूचना तकनीकी तथा समाज, शिक्षा एवं बाल अधिकार एवं नवीन आर्थिक नीतियाँ आदि संकेन्द्रण क्षेत्रों पर केन्द्रित हैं।

परिसंवादों, संगोष्ठियों, कार्यशालाओं, प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों आदि अकादमिक अनुष्ठानों का आयोजन, समाज विज्ञानों में अनुसन्धानपरक नवोन्मेष एवं नवाचारों का प्रवर्तन, मन्त्रालयों एवं अन्य सामाजिक अभिकरणों को परामर्श एवं शोधपरक सहयोग प्रदान करना संस्थान की अन्य प्रमुख गतिविधियाँ हैं। संस्थान में एक संवर्द्धनशील पुस्तकालय एवं प्रलेखन केन्द्र है जिसमें समाज विज्ञानों पर पुस्तकें, शोध पत्रिकाएँ और प्रलेख उपलब्ध हैं।

संस्थान शोध कार्यों को अवसरिक पत्रों, विनिबन्धों, शोध-पत्रों एवं पुस्तकों के रूप में प्रकाशित करता है। इसके अतिरिक्त दो षाण्मासिक शोध जर्नल - मध्यप्रदेश जर्नल ऑफ सोशल साइंसेज़ (अँग्रेजी) एवं मध्यप्रदेश सामाजिक विज्ञान अनुसन्धान जर्नल (हिन्दी) का प्रकाशन भी संस्थान द्वारा किया जाता है।

भारत के समाचार पत्रों के पंजीयक के कार्यालय में
पं.क्र. MPHIN/2003/10172 द्वारा पंजीकृत

म.प्र. सामाजिक विज्ञान शोध संस्थान के लिए
डॉ. यतीन्द्रसिंह सिसोदिया द्वारा
6, रामसखा गौतम मार्ग, भरतपुरी प्रशासनिक प्रक्षेत्र, उज्जैन - 456010 (मध्यप्रदेश) से
प्रकाशित एवं मुद्रित